❋ श्रीगौराङ्गविधुर्जयति ❋

श्रीश्रीगौरतत्व

चरितांश व तत्वांश

सङ्कलन कर्त्ता
श्रीविश्वम्भर गोस्वामी



प्रकाशकः
श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल (रजि०)
श्रीधाम वृन्दावन

प्रकाशक : श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल
श्रीधाम वृन्दावन.

प्रथम संस्करण : ५०० प्रतियां

मुद्रक : श्यामलाल हकीम
श्रीहरिनाम प्रेस,
बाग बुन्देला, वृन्दावन.

न्यौछावर : ३.५०रु०

श्रीगौराङ्ग जयन्ति सम्वत् २०२७

दो शब्द

गौड़ीय वैष्णव साहित्य एवं सिद्धान्त ग्रन्थ प्रायः संस्कृत अथवा बङ्ग भाषा में ही हैं। किन्तु आजकल श्रीमन्महाप्रभु तथा छ गोस्वामियों द्वारा प्रतिपादित गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्तों के प्रति लोगों की रुचि बढ़ती जा रही है— प्रायः हिन्दी भाषी लोगों को गौड़ीय साहित्य हिन्दी भाषा में उपलब्ध न होने के कारण उनकी सुरुचि पूर्ण जिज्ञासा में एक विराम सा लग जाता है।

श्री गौड़ीय वैष्णव साहित्य को समझने से पहले 'श्रीगौर-तत्व' का समझना नितान्त प्रयोजनीय है। क्योंकि जब तक वास्तविक-तात्विक आलोचना न होकर उनमें श्रद्धा दृढ़ता को प्राप्त न हो तब तक उनके सिद्धान्तों में भी दृढ़ता आना सम्भव नहीं है। इसीलिये 'श्रीगौर-तत्व' क्या तत्व है इसका ज्ञान होना नितान्त ही आवश्यक है।

गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीमन्महाप्रभु और कोई नहीं अपितु स्वयं ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। द्वापर युग में श्रीकृष्ण की जो इच्छा अपूर्ण रह गयी थी—उसकी पूर्ति हेतु और अन्य अवतार, प्रयोजनों की पूर्ति हेतु उन्हें कलियुग में श्रीराधाकृष्ण सम्मिलित तनु, प्रेमावतार श्रीगौरसुन्दर के रूप में प्रकटित होना पड़ा। युगावतार के रूप में उन्होंने श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन का तो प्रचार किया ही—किन्तु साथ ही साथ अन्य प्रयोजनों की भी पूर्ति की, और उन्हीं प्रयोजनों के अन्तर्गत श्रीराधिका के प्रेम की महिमा, श्रीकृष्ण-सौन्दर्य-माधुर्य आस्वादन एवं तद्जनित सुख—जिनका अनुभव श्रीकृष्ण द्वापर युग में नहीं कर सके, इन तीनों वाञ्छाओं की पूर्त्ति करना गौर स्वरूप का मुख्य कारण है।

कलियुग के अवतार का विषय श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित है। उसकी स्पष्ट ध्वनि है कि बुद्धिमान लोग सङ्कीर्तन प्रधान उपचार के द्वारा उनकी अर्चना एवं उपासना करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु को सङ्कीर्तन का पिता कहकर भी सम्बोधन किया गया है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामिपाद ने 'श्रीचैतन्य चरितामृत' में पहले ही श्रीकृष्ण एवं 'श्रीगौर-तत्व' की आलोचना प्रारम्भ की है। तात्विक आलोचना प्रायः शुष्क ही होती है। श्रोताओं को प्रायः ऐसी आलोचना में आनन्द प्राप्त नहीं होता है। किन्तु

साधन-पथ के पथिकों की प्रथम सिद्धान्त आलोचना को हृदयङ्गम करना होता हैं। श्री कविराज गोस्वामी ने कहा है—

सिद्धान्त बलिया चिते न कर अलस।
ईहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥

यह कहने के बाद उन्होंने स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि—

'श्रीकृष्ण चैतन्य गोसाई साक्षात् ब्रजेन्द्र कुमार।'

इधर गौड़ीय सम्प्रदाय के निरन्तर प्रसार एवं प्रचार से लोगों की स्वाभाविक अभिरुचि श्रीगौर-तत्व के जानने की ओर हो रही है। किन्तु हिन्दी भाषा में इस प्रकार का साहित्य न मिलने के कारण हिन्दी भाषी पिपासु हो रह जाते हैं। अतः उनकी पिपासा शान्ति, के लिए सर्व प्रथम "श्रीगौर-तत्व" का हिन्दी अनुवाद श्रीगौर प्रेमी—हिन्दी भाषी लोगों के सेवार्थ प्रस्तुत, किया जा रहा है। मूल ग्रन्थ "श्रीश्रीगौर-तत्व" बङ्ग भाषा में है, और इसके लेखक परम गौर भक्त डा० राधागोविन्द नाथ महाशय कलकत्ता निवासी हैं। जिन्होंने की गौड़ीय वैष्णव साहित्य को अपनी अनेकों उत्कृष्ट अनुपम कृतियों के द्वारा समृद्धिशाली बनाया है। डा० नाथ महाशय ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति मुझे कुछ समय पूर्व दी थी, किन्तु बड़े ही विदीर्ण हृदय से लिख रहा हूँ कि जब इसका अनुवाद पूर्ण होकर प्रकाशित होने का सुयोग आया, उस समय श्री नाथ महाशय हमारे मध्य में नहीं हैं। मैं उनकी कृपानुमति का विशेष आभारी हूं।

अनुवाद कैसा हुआ—यह तो नहीं कह सकता—अनेकों त्रुटि और भूल होना स्वाभाविक ही है। किन्तु पाठक गण यदि अनुवाद को पढ़कर थोड़ा सा भी सुख पायेंगे तो अपने परिश्रम को मैं सफल समझूँगा।

श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल तथा श्री श्यामलाल जी हकीम का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने की इस ग्रन्थ के अनुवाद व प्रकाशन में अयाचित सहयोग दिया।

श्रीश्रीगौर पूर्णिमा सं० २०२७
शान्ति कुटीर
श्रीराधारमण मन्दिर, वृन्दावन.

श्रीवैष्णव चरण रज प्रार्थी—
विश्वम्भर गोस्वामी

* श्रीगौराङ्गविधुर्जयति *

* समर्पण *

गोलोकवासी गौर गत प्राण गुरुदेव श्रील कृष्णचैतन्य गोस्वामि पाद पितृदेव-श्री चरण कमलेषु—

आपके चरण-प्रान्त में बैठकर आपके श्रीमुख से गौर कथा सुनी और उसी के फल-स्वरूप हृदय में यह प्रेमांकुर रोपण हुआ, प्रभु-कृपा और आपकी शक्ति द्वारा अनुप्राणित होकर श्रीमन्महाप्रभु की तत्वा-लोचना बङ्ग-भाषा से हिन्दी भाषा में करने के लिये उत्साहित हुआ। 'श्रीश्रीगौर-तत्व' का हिन्दी अनुवाद कलिहत जीव को अपने आराध्य निर्णय करने में सहायक हो—

इसी कामना के साथ समर्पित है।

आपका चरण-रेणु-प्रार्थी
अधम—
विश्वम्भर

* अनुक्रमणिका *

मङ्गलाचरण
श्रीश्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु

(चरितांश)

१—जन्म-लीला ख
२—विद्यारम्भ व अध्ययन-त्याग ग
३—चाञ्चल्य ग
४—उपनयन व पुन अध्ययनारम्भ ग
५—पितृ-वियोग घ
६—प्रथम विवाह घ
७—अध्यापन घ
८—पूर्वी बंगाल-भ्रमण व तपन मिश्र घ
९—श्रीनाम-प्रचार आरम्भ ङ
१०—श्रीलक्ष्मीदेवी का अन्तर्धान एवं श्रीविष्णु-प्रिया का विवाह ङ
११—वैष्णव उपदेश ङ
१२—गया-यात्रा एवं दीक्षा च
१३—परिवर्त्तन च
१४—अध्यापन-शेष एवं कीर्त्तनारम्भ च
१५—कीर्त्तन-विघ्न छ
१६—महा सङ्कीर्त्तन एवं काजी दमन छ
१७—जगाई-माधाई उद्धार ज
१८—संन्यास-ग्रहण ज
१९—शान्तिपुर में शचीदेवी झ
२०—नीलाचल-यात्रा झ
२१—इतस्ततः गमनागमन झ
२२—श्रीरूप-शिक्षा ञ
२३—श्रीप्रकाशानन्द-उद्धार ञ
२४—श्रीसनातन शिक्षा ञ
२५—नीलाचल में विरह-लीला ट

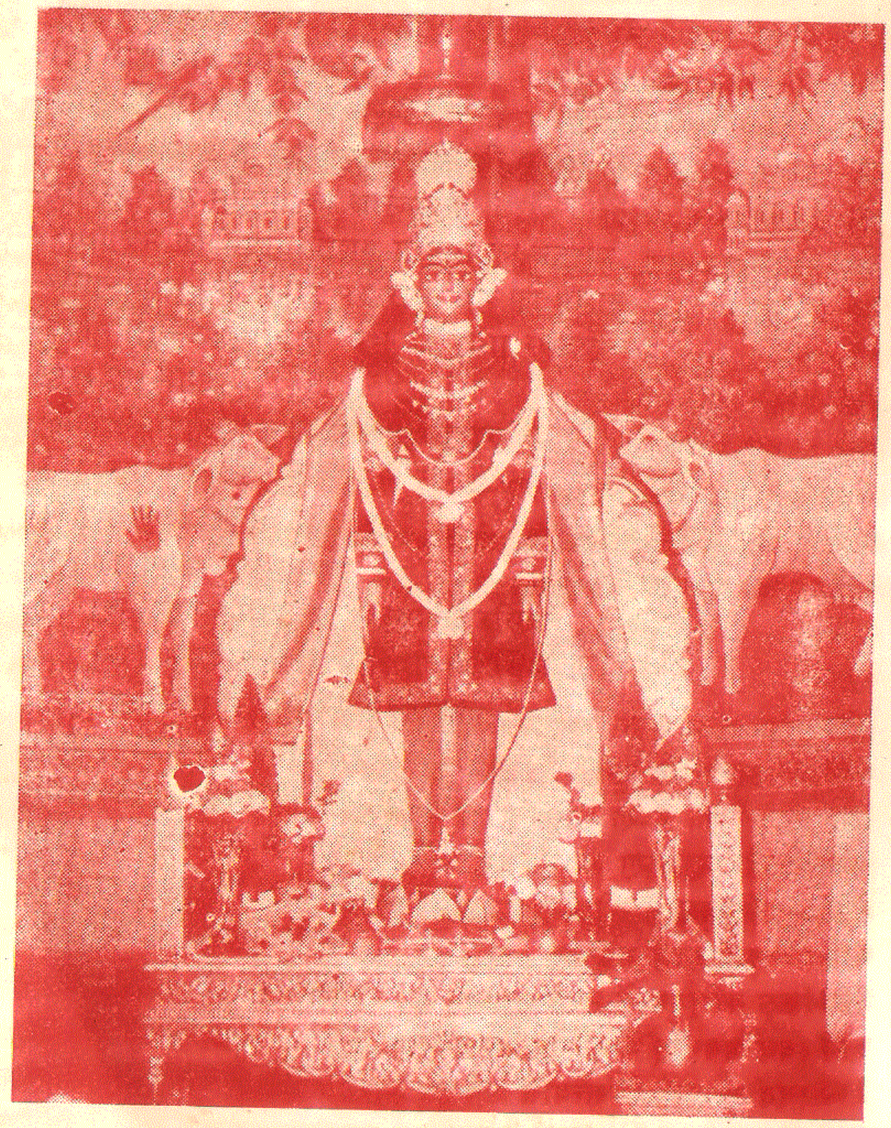
२६—श्री प्रतापरुद्र व राय रामानन्द ट
२७—श्रीवासुदेव सार्वभौम ठ
२८—लीलावसान ठ
२९—श्रीमहाप्रभु के आविर्भाव से पहले देश की अवस्था ठ
३०—श्रीअद्वैताचार्य का सङ्कल्प ड
३१—आविर्भाव-फल ढ
३२—उपास्य का आकर्षकत्व ढ
३३—साधन का आनन्द दायकत्व ण
३४—साहित्य पर प्रभाव ण
३५—समाज-संस्कार थ
३६—साम्य द
३७—सेवा ध
३८—अहिंसा एवं सहिष्णुता न
३९—स्वावलम्बता प
४०—प्रीति एवं मैत्री प
४१—विचार एवं आलोचना फ
४२—साम्प्रदायिकता का अभाव भ

(तत्त्वांश)

१—विज्ञमत के अनुसार ईश्वर-लक्षण १
२—राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम् ६
३—श्रीराधिका कृष्ण शक्तित्व एवं प्रेमघन-विग्रहत्व १५
४—श्रीश्रीराधाकृष्ण की एकात्मता १७
५—अनादिकाल से श्रीश्रीराधाकृष्ण दो रूपों में अवस्थित हैं १८
६—गौरवर्ण स्वयं भगवान् १९
७—किस कलियुग में स्वयं भगवान् का गौरवर्ण से अवतार हुआ ? २७
८—स्वयं भगवान् के गौरत्व का कारण ३३
९—स्वयं भगवान् के संन्यास रूप का शास्त्रीय प्रमाण ४१
१०—गौर वर्ण स्वयं भगवान् के भक्त-भावत्व का प्रमाण ४३
११—श्रुति में गौर वर्ण स्वयं-भगवान् ४४
१२—शास्त्र वाक्य-आलोचना का सार मर्म ४६

१३—शचीनन्दन के गौर वर्ण एवं स्वयं भगवत्ता का विचार ४७
(१) दैहिक-लक्षण ५०
(२) श्रीचैतन्यदेव में स्वयं भगवत्ता-लक्षण ५२
(३) शास्त्र कथित अन्यान्य लक्षण ६१
(४) श्रीचैतन्य—श्रीश्रीराधाकृष्ण मिलित स्वरूप ६४
(५) राधाभाव सुवलितत्व ७३
१४—श्रीकृष्ण का माधुर्य एवं अपूर्ण वासना ७५
१५—माधुर्यास्वादन व अपूर्ण वासनाओं की पूर्त्ति ७८
१६—श्रीराधा-प्रेम-महिमा का आस्वादन ८८
१७—राधा प्रेम की माधुर्यातिशय महिमा का अनुभव ९०
१८—श्रीमन्महाप्रभु के शरीर पर राधा प्रेम का प्रभाव ९२
१९—सुदीप्त सात्त्विक-भाव व प्रभु का राधा स्वरूपत्व ९८
२०—अङ्ग एवं पार्षद १०६
२१—श्रीश्रीश्यामसुन्दर एवं श्रीश्रीगौरसुन्दर १०९
(१) रसस्वरूपत्व १०९
(२) स्वरूपानन्द ११५
(३) आस्वादक रस-स्वरूप ११५
(क) स्वरूपानन्द का आस्वादक रसिक ११५
(ख) शक्त्यानन्द का आस्वादक रसिक ११६
(४) रसस्वरूप में विषय एवं आश्रय ११९
(५) रसस्वरूपत्व व परिकर १२०
(६) रसस्वरूपत्व तथा करुणा १२१
(७) रस स्वरूपत्व व असुर-संहार १२६
(८) रस स्वरूपत्व एवं गतिदायकत्व १२६
२२—ब्रजलीला व नवद्वीप लीला १२७
२३—श्रीगौरसुन्दर का उपास्यत्व १३२
२४—सम्भवामि युगे युगे १३४
२५—श्रीचैतन्य भागवत-उक्ति १४१
२६—नाम-सङ्कीर्तन १४५
२७—उपसंहार १५१

श्रीश्रीअमिय-निमाई गौरसुन्दर



" न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्वं परमिह "

❋ श्रीश्रीगौराङ्गविधुर्जयति ❋

श्रीश्रीगौर-तत्व

मंगलाचरणम्

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजन शलाकया ।
चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यं भगवन्तं कृपार्णवम् ।
प्रेमभक्ति वितानार्थं गौड़ेष्ववततार यः ॥

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा,
य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः।
षड़ैश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं,
न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्वं परमिह ॥

श्रीरूपसानुग नमोस्तु नमोस्तु तुभ्यं,
श्रीमत्सनातन नमोस्तु नमोस्तु जीव ।
श्रीयुक्तदासरघुनाथ नमोस्तु नित्यं,
गोपालभट्ट रघुनाथ नमो नमोस्तु ॥

वाञ्छाकल्पतरूभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु

(चरितांश)

जन्म लीला

शकाब्द १४०७ (सम्वत् १५४२) फाल्गुन मास की पूर्णिमा तिथि को सन्ध्या समय श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने जन्मलीला प्रगट की। उसदिन चन्द्र-ग्रहण था। ग्रहणोपलक्ष में नवद्वीप श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन-ध्वनि से मुखरित हो रहा था। गंगा घाट पर सैंकड़ो लोग श्रीहरिनाम करते करते ग्रहण-स्नान कर रहे थे। ठीक ऐसे समय संकीर्त्तन-नट श्रीमन्महाप्रभु नवद्वीप में सद्योजात शिशु के रूप से अवतीर्ण हुए। इनके पिता का नाम श्रीजगन्नाथ मिश्र तथा माता का नाम श्रीशचीदेवी था।

श्रीजगन्नाथ मिश्र का जन्मस्थान श्रीहट्ट जिला के अन्तर्गत दक्षिण ढाक्रा था। विद्या-शिक्षा निमित्त वे नवद्वीप आये एवं वहां श्रीनीलाम्बर चक्रवर्त्ती की कन्या श्रीशचीदेवी से विवाह किया। फिर नवद्वीप में ही निवास करने लगे। क्रमशः श्रीशचीदेवी से आठ कन्याओं ने जन्म लिया और एक एक करके आठों की ही मृत्यु हो गई। उसके बाद श्रीविश्वरूप एवं श्रीमन्महाप्रभु का जन्म हुआ। कोई कोई कहते हैं, श्रीमन्महाप्रभु ने एक निम्बवृक्ष के नीचे जन्म-ग्रहण किया था इसी कारण शिशुकाल में इन्हें "**निमाई**" कहते थे, किन्तु कविराज गोस्वामी श्रीकृष्णदास ने श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है—

डाकिनी शाकिनी हईते, शंका उपजिल चिते,
डरे नाम थुइल निमाई।

अर्थात् माता ने डाकिनी शाकिनी की शंका से चित्त में भयभीत होकर इनका नाम "निमाई" रखा।

श्रीमन्महाप्रभु के बड़ेभाई श्रीविश्वरूप अति अल्प वयस में परम विद्वान एवं धर्मप्रवण हो गये। उनकी वयस जब लगभग १६ वर्ष थी, तब

श्रीजगन्नाथ मिश्र उनके विवाह की चिन्ता करने लगे। ऐसे समय में श्रीविश्वरूप ने अकस्मात् एकदिन गृह त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लिया। शोक से माता-पिता का हृदय विदीर्ण हो गया। प्राण-निमाई को लेकर उन्होंने ज्यों त्यों अपने जीवन की रक्षा की।

विद्यारम्भ व अध्ययन-त्याग

निमाईप्रभु ने यथा समय श्रीगंगादास पण्डित की संस्कृत पाठशाला में सम्मिलित होकर विद्या आरम्भ की। लिखने पड़ने में इनकी असाधारण उन्नति व प्रतिभा देखकर सब विस्मित होगये तथा इनकी असाधारण प्रतिभा, सुतीक्ष्ण बुद्धि एवं अध्ययन–पटुतादि की बहुत प्रशंसा करने लगे। एकदिन मिश्र जगन्नाथ शचीदेवी से बोले—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा यह पुत्र भी संसार में प्रवृत्त न होगा। कारण कि इसी तरह विश्वरूप भी सर्वशास्त्र पढ़ कर संसार को नश्वर जानते हुए इस संसार से विरक्त हो गया। निमाई को भी यदि सर्वशास्त्र-ज्ञान हो गया तो यह भी संसार-सुख त्याग कर चला जायेगा। अतः इसे पढ़ाने में कोई कार्य-सिद्धि नहीं दीखती। मेरा पुत्र भले ही मूर्ख रहे किन्तु घर ही में रहे, यही बहुत है।" ऐसा निश्चय कर निमाईप्रभु का अध्ययन समाप्त करा दिया गया। निमाईप्रभु ने मन में बहुत दुःख पाया, किन्तु पिता-आज्ञा का उल्लङ्घन न कर सके।

चाञ्चल्य

बाल्यकाल में निमाई-प्रभु अत्यन्त उद्धत थे। सर्वदा दुरन्तपना करते। विद्यारस में मग्न होने के कारण बीच में कुछ शान्त होगये थे किन्तु अब फिर उनका पहला स्वभाव जाग उठा। अल्प वयस, लिखना पढ़ना रहा नहीं, दुरन्तपना न करते तो और करते ही क्या? रात्रि समय बराबर के शिशुओं के साथ मिलकर कभी पड़ोसियों के केला-वृक्ष तोड़ देते, कभी बाहर से उनके घरों के किवाड़ बन्द कर देते। किसी समय हांडियो के ढेर पर जा बैठते एवं समस्त शरीर को उनकी कालिमा लगा बैठते। माता शासन करते समय कहा करती—"हाय–हाय! यह अनपढ़ मूर्ख-ब्राह्मण-पुत्र बुरा-भला, धर्म-अधर्म कैसे जानेगा?"

उपनयन व पुनः अध्ययनारम्भ

इस उद्धता को देखकर, निमाईप्रभु को विद्यालय में फिर से भेजने

के लिये सब लोग श्रीजगन्नाथ मिश्र को परामर्श देने लगे। उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार के पश्चात् निमाईप्रभु को फिर पण्डित श्रीगंगादास की पाठशाला में बिठा दिया गया। निमाईप्रभु तब अति उत्साह से अध्ययन करने लगे।

पितृ-वियोग

थोड़ा ही समय हुआ था कि पण्डित श्रीजगन्नाथ मिश्र का देहान्त होगया। माता-पुत्र दोनों शोकातुर होगये। माता शची पितृहीन-निमाई का प्राणों से लालन-पालन करने लगी। पहले तो निमाई का दुरन्तपना देखकर कभी जगन्नाथ मिश्र उसे शासन किया करते थे, परन्तु अब शासन करने वाला और कोई न था, तथा माता के अत्यधिक स्नेह-आदर से निमाई और अधिक उद्धत हो उठे। इच्छित वस्तु न मिलने पर कोई बचाव न था; घर की सारी वस्तुऐं-बर्तन तोड़-फोड़ कर वे उत्थल-पुत्थल कर देते। किन्तु ऐसा होने पर भी इनके अध्ययन में शिथिलता न आई। थोड़े समय में निमाईप्रभु एक प्रसिद्ध पण्डित बन गये।

प्रथम विवाह

अध्ययन समाप्त होने से पूर्व ही श्रीबल्लभाचार्य की कन्या से श्रीनिमाई का विवाह हो गया।

अध्यापन

अध्ययन समाप्त कर श्रीनिमाई ने अध्यापन आरम्भ किया। देश-देशान्तर से सैंकड़ों छात्र आकर इनकी पाठशाला में बैठने लगे। श्रीनिमाई पण्डित के पाण्डित्य-गौरव से नवद्वीप धन्य होगया। नवद्वीप उस समय विद्या-चर्चा का एक प्रधान केन्द्र था, उस जगह अनेक प्रसिद्ध पण्डित निवास करते थे। नवद्वीप के पण्डितों को विद्या-युद्ध में पराजित करने के अभिप्राय से और और देशों से अनेक प्रसिद्ध दिग्विजयी पण्डित नवद्वीप में आते, किन्तु श्रीनिमाई पण्डित के निकट उन सबको पराजय स्वीकार करनी पड़ती।

पूर्वी बंगाल-भ्रमण व श्रीतपन मिश्र

तत्कालीन पण्डितगणों में कोई कोई विद्या-वितरण के उद्देश्य से

भी देश-भ्रमण करते थे। हमारे निमाई-पण्डित भी एकबार पूर्वी-बंगाल में गये, तब अनेक विद्यार्थियों ने इनकी कृपा लाभ की। अनेक विद्यार्थियों को अनेक स्थानों में पढ़ाया। श्रीनाम-संकीर्त्तन प्रचार भी इन्होंने पूर्वी-बंगाल में आरम्भ किया। पद्मा नदी के तीर पर श्रीतपन मिश्र नामक एक वृद्ध ब्राह्मण साध्य-साधन-तत्व निर्णय न कर सकने पर अत्यन्त दुखित होरहा था। स्वप्नयोग से एक ब्राह्मण का आदेश पाकर वह इनकी शरण में आया। निमाईप्रभु ने उसे साध्य-साधन-तत्व सुनाया एवं वाराणसी में जाकर तारक-ब्रह्म हरिनाम का जप करने का उपदेश दिया।

श्रीनाम-प्रचार आरम्भ

श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन के बीच ही प्रभु का जन्म हुआ था। सब शिशु शिशुकाल में बहुत रोते हैं, प्रभु भी ऐसा करते थे; किन्तु अन्य शिशुओं का रोना जैसे बन्द किया जाता है, प्रभु का रोना वैसे बन्द न किया जा सकता था। इनके निकट "हरि-हरि" बोलने से ही इनका रोना बन्द होता था, अन्य किसी उपाय से नहीं। इसी कारण लोगों ने कौतुकवश इनका नाम "गौर-हरि" रखा था। श्रीनाम-संकीर्त्तन-प्रचार, जो इनके आविर्भाव का एक मुख्य कार्य है, पूर्वी-बंगाल भ्रमण काल में ही आरम्भ हुआ।

श्रीलक्ष्मीदेवी का अन्तर्धान एवं श्रीविष्णुप्रिया का विवाह

जब श्रीनिमाई पण्डित पूर्वी-बंगाल गये, तब सर्प काटने से इनकी सहधर्मिणी श्रीलक्ष्मीदेवी का अन्तर्धान होगया। इन्होंने घर आकर माता को सांत्वना दी एवं कुछकाल बीतने पर राजपण्डित श्रीसनातन की कन्या श्रीमति विष्णुप्रिया देवी का पाणिग्रहण किया।

वैष्णव-उपदेश

नवद्वीप में उस समय भी कोई कोई भजन-परायण वैष्णव थे। श्रीनिमाई पण्डित का असाधारण पाण्डित्य व प्रतिभा एवं अनुपम सौन्दर्य उन सब का चित्ताकर्षक था। श्रीवास पण्डित, श्रीमुरारी गुप्त प्रमुख महा-भागवत-वैष्णव भी इनसे अत्यन्त प्रीति करते। किन्तु ये श्रीकृष्णभजन

नहीं करते थे, यही उन वैष्णवों को विशेष दुःख था। बीच बीच में वे इनको श्रीकृष्ण–भजन के निमित्त उपदेश भी करते किन्तु उसमें उन्हें विशेष सफलता न दीख पड़ती।

गया-यात्रा एवं दीक्षा

कुछ दिन के बाद अपने पिताजी के श्राद्ध करने के लिये निमाईप्रभु गया में गये। वहां इन्होंने श्रीपाद ईश्वरपुरी से श्रीकृष्ण-मंत्र दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के साथ साथ इनके भावों में परिवर्तन होगया। ये श्रीकृष्ण प्रेम में उन्मत्त से हो उठे। नवद्वीप वापिस न लौटकर श्रीवृन्दावन जाकर श्रीकृष्ण-भजन करने का संकल्प कर लिया। श्रीवृन्दावन को रवाना भी हुए, किन्तु एक दैववाणी सुनकर निरस्त होगये और अपने देश को वापिस लौट आये। जो निमाई गया जी में गया था, लौट आने पर मानो अब वह पहला निमाई न रहा। श्रीकृष्ण–विरह–कातर, श्रीकृष्ण–मिलन में उत्कण्ठित, दैन्य का एक प्रगट-विग्रह ही था अब वह निमाई। इन्हें इस रूप में देखकर नवद्वीप की वैष्णव-मण्डली के आनन्द की सीमा न रही। उनके हाथ मानो आकाश का चान्द पड़ गया। भक्तिपूर्ण-हृदय से वे श्रीकृष्ण–चरणों में अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करने लगे।

परिवर्तन

प्रभु–निमाई अब विद्यारसास्वादन के लिये पण्डितों की सभा में न जाते। अध्यापन के लिये चतुष्पाठी (जहां चारों वेदों का अध्ययन किया जाता था) नहीं जाते थे। जाते भी थे तो पुस्तक खोलकर केवल "कृष्ण-कृष्ण" उच्चारण करते और व्याकरण के सूत्रादि की व्याख्या के मिस श्रीकृष्ण कथा ही कहते। अब इनका उठना बैठना केवल वैष्णवों के साथ था। उनके साथ श्रीकृष्ण-कथा,श्रीकृष्ण-गुण-स्मरण करते रोना-हंसना कभी श्रीकृष्ण-विरह में पृथ्वी पर लौटने लग जाते।

अध्यापन-शेष एवं कीर्त्तनारम्भ

श्रीनिमाईप्रभु ने अब पढ़ना-पढ़ाना बन्द कर दिया। छात्रों ने भी पुस्तकों को डोरी बांध कर रख दिया। वे भी अपने अध्यापक के साथ

श्रीकृष्ण-कीर्त्तन में उन्मत्त हो उठे। सर्वत्र कीर्त्तन होने लगा, विशेषतः श्रीवास के आंगन में।

कीर्त्तन-विघ्न

श्रीनाम-संकीर्त्तन के विरोधी लोग उस समय नवद्वीप में बहुत थे। श्रीनिमाई के संग से एवं कीर्तन-प्रभाव से बहुतों की मति-गति बदल गई; तथापि अनेक विरोधी भी खड़े हो गये। संकीर्तन-ध्वनि उनके कानों को तपे हुए लोह की शलाका की तरह जलाने लगी। उन्होंने जाकर मुसलमान काजी के पास चुगली खाई। काजी ने कीर्तन-निषेध की आज्ञा दे दी, तथा यवन अधिकारियों के द्वारा कहीं कहीं मृदङ्ग खड़ताल आदि तोड़-फोड़ भी दिये गये। संकीर्तन-रस-लोलुप वैष्णवों ने उसे प्रमाद ही समझा। कुछ लोग भय-भीत हो कर निमाई-पण्डित की शरण में आए। इन्होंने उनके भय को दूर कर दिया।

महा-संकीर्तन एवं काजी-दमन

श्रीनित्यानन्द, श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीगंगाधर आदि भक्तवृन्द आकर पहले ही इन से मिल चुके थे। सबको लेकर इन्होंने एक महा-संकीर्तन के आयोजन की। इनके आदेश से सारा नगर दीपावलि पुष्पमालाओं और आम्रपल्लवों से सजाया गया। प्रत्येक दरवाजे पर केले के वृक्ष तथा मंगल-घट स्थापित किये गये। सन्ध्या के समय होथों में मशालें लेकर हजारों मनुष्य राजपथ पर रवाना हुए। सैंकड़ों मृदङ्ग, हजारों करताल, अनगनित शंखों-घटों के नाम में सहस्र कण्ठ समुच्च "हरि-हरि" ध्वनि से नवद्वीप का आकाश-वातास गूञ्ज उठा। संकीर्तन-नट श्रीगौरहरि के आनन्द की सीमा न थी। ये त्रिभुवन-मोहन वेश से सुसज्जित हो रहे थे। इनका ज्योतिर्मय सुवर्ण विग्रह कोटि-कन्दर्प-लावण्य को निन्दित कर रहा था। घुंघराले बालों पर मालती की माला, ललाट पर चन्दन, मधुर-मुस्कान सर्व-चित्ताकर्षक थी। नेत्रजल प्रवाह से इनके सब अङ्ग भीजे जा रहे थे। पुलकावलि में कनक कदम्ब की शोभा थी। श्रीनाम संकीर्तन में ये बेसुद्धि हो रहे थे। इन्होंने भिन्न भिन्न टोलियां गठन कर रखी थीं। आगे आगे श्रीहरिदास, मध्य में श्रीअद्वैतचार्य परमोल्लासयुत नृत्य कर रहे थे। पीछे की टोली में श्रीगौरचन्द तथा प्रभुनित्यानन्द "हरि हरि" ध्वनि

पूर्वक नाचते जा रहे थे। संकीर्तन करते करते समस्त नगर में इन्होंने भ्रमण किया और अन्त में ये काजी के द्वार पर पहुँचे। संकीतन का कोलाहल सुनकर काजी पहले ही अन्तःपुर में जा बैठा था। श्रीनिमाई-पण्डित के आह्वान पर वह भय-भीत हृदय होकर बाहिर आया। दोनों का वार्तालाप हुआ। यवन काजी ने प्रभु का आनुगत्य स्वीकार किया और भविष्य में संकीर्तन में विघ्न नहीं होगा, ऐसी प्रतिज्ञा की। उस दिन के बाद निर्विघ्नता से सर्वत्र संकीर्तन होने लगा। वैष्णव-वृन्द के आनन्द की सीमा न रही।

जगाई-माधाई उद्धार

नवद्वीप के अन्तर्गत शहर कोटाल के एक ब्राह्मण-कुल में जगाई-माधाई का जन्म हुआ था, किन्तु वे मद्यप, दुर्दान्त एवं दुष्चरित्र थे। ऐसा कोई दुराचार बाकी न था जो वे न करते। उन दुरात्माओं के पथ से गुजरना साधु-सज्जनों के लिये विपद-संकुल था। प्रभु के आदेश से श्रीनित्यानन्द एवं श्रीहरिदास जब नगर में एकदिन श्रीनाम-प्रचार कर रहे थे, तब जगाई-माधाई उन्हें मारने के लिये उनके पीछे दौड़े। दूसरे दिन मद्यप माधाई ने एक शिला लेकर श्रीनित्यानन्द के माथे पर दे मारी। उनका माथा फट गया, रक्त बहने लगा। माधाई तो और भी मारने को उद्यत हुआ, किन्तु जगाई ने रोक लिया। इस संवाद को पा कर क्रोधित हो श्रीमहाप्रभु वहां पहुँचे, किन्तु अक्रोधपरमानन्द-परमदयालु श्रीनित्यानन्द की प्रेमबाढ़ में प्रभु का क्रोध बह गया। प्रभु ने कृपा करके दोनों भाईयों को अङ्गीकार कर लिया। तब से जगाई-माधाई परम भागवत हो गये।

संन्यास-ग्रहण

चौबीश वर्ष की आयु में श्रीमन्महाप्रभु ने अपनी वृद्धा-जननी, किशोरी-भार्या एवं तद्-गतप्राण भक्तवृन्द को रुला कर काटोया नगर में जाकर श्रीपाद केशव-भारती के निकट संन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीनित्यानन्द अपने कौशल से इन्हें शांतिपुर में श्रीअद्वैताचार्य के घर में ले आये। उसी स्थान पर सब नदियावासी भी आकर मिले। शोक-विह्वला शचीमाता भी वहां आई, किन्तु परमदुःखनि विष्णुप्रिया को वहां आने का आदेश नहीं मिला।

"हा प्रिया जी ! हा करुणामयि ! जगत्-वासियों के उद्धार निमित्त आपने क्या क्या कष्ट सहन नहीं किये ? अपने हृदय के प्राण-धन कोटि मन्मथमथन—श्रीश्रीगौरसुन्दर को, माया-हत दीन-दुःखियों के द्वार द्वार पर श्रीहरिनाम दान करने के निमित्त भेज दिया एवं श्रीकृष्णविरह में स्वयं रोकर जगत् के जीवों को भी तद्रूप रुलाने के निमित्त तथा त्रिताप-दग्ध साधारण चण्डाल पर्यन्त को भी स्वीय कोटि-चन्द्र-सुशीतल श्रीचरण-तल में आश्रय देने के निमित्त उन्हें आपने जगत् के समर्पण कर दिया। भक्तिस्वरूपिणि जगतारिणि ! जगत् को भक्ति-सम्पत्ति देने के लिये आपने स्वयं चिरदुःख को वरण कर लिया। धन्य हैं आप, धन्य है आपकी कृपा।

शान्तिपुर में शचीदेवी

जब शचीदेवी शान्तिपुर गईं, वहां मुण्डित-मस्तक प्राण-निमाई को गोद में बिठा कर उनके मुखचन्द्र को देखने लगी।

दुःखनि माता; एक एक करके जिसकी आठ कन्या चल बसी थीं, सुपण्डित-सुन्दर-दर्शन-किशोर पुत्र विश्वरूप भी संन्यास ग्रहण कर जिसे त्याग चुका था, स्वामी ने भी जिसका साथ छोड़ दिया था, वृद्धावस्था का एकमात्र साथी—अन्धे की लाठी-सदृश निमाई ही जिसका एकमात्र आधार था वह निमाई भी आज जिसे छोड़ कर चला जा रहा है, घर में जिसके किशोरी वधू विष्णुप्रिया है, जो जन्म-अभागिनी की तरह एकबार भी पति-दर्शन नहीं सकती, हाय ! हाय ! जिसकी सान्त्वना के लिये कोई भी उपाय नहीं वह शचीमाता निमाई के मुख को देख देख कर विचारों में डूब गई, नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली; किन्तु निमाईप्रभु चुप ही रहे आये।

नीलाचल-यात्रा

प्रभु के संन्यासाश्रम का नाम हुआ कृष्णचैतन्य। ये कुछ दिन शांति-पुर में रह कर माता के आदेश से नीलाचल में चले गये और वहां चौबीस वर्ष रहे।

इतस्ततः गमनागमन

उन चौबीस वर्षों में इन्होंने छः वर्ष अनेक स्थानों पर भ्रमण कर नाम-प्रेम का वितरण किया। दक्षिण में रामेश्वर पर्यन्त गये। श्रीवृन्दावन

जाने के लिये ये एकबार फिर बंगाल में आये एवं शचीमाता के दर्शन किये, रामकेली गांव में श्रीरूप-सनातन पर इन्होंने कृपा की, किन्तु उस-बार भी वृन्दावन न आ सके। साथ में जन समूह देख कर ये नीलाचल वापिस लौट गये। कुछ समय के बाद झारिखण्ड-वन के रास्ते ये श्रीवृन्दा-वन आये। लौटते समय प्रयाग एवं काशी हो कर गये। दक्षिण-यात्रा में प्रभु के साथ श्रीकृष्णदास नाम का एक ब्राह्मण भी गया था। श्रीवृन्दावन यात्रा में श्रीबलभद्र-भट्टाचार्य और उसका एक भृत्य ब्राह्मण इनके साथ था। काशी में ये श्रीतपन मिश्र के घर भिक्षा करते थे।

श्रीरूप-शिक्षा

जब ये मथुरा गये, श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी के शिष्य एक सनोरिया ब्राह्मण इनके साथ रह कर इनको समस्त दर्शनीय स्थानों को दिखाया। प्रभु ने आरिट ग्राम में श्रीकृष्णकुण्ड व राधाकुण्ड का आविष्कार किया। वापिस लौटते समय जब प्रयाग आये तब श्रीरूपगोस्वामी वहां इनसे आकर मिले। प्रभु ने दस दिन वहां रह कर कृपा पूर्वक उनको प्रेम-भक्ति विषयक तत्व-शिक्षा दी।

श्रीप्रकाशानन्द-उद्धार

उसके बाद ये काशी में आये। उस समय काशी में श्रीप्रकाशानन्द सरस्वति नाम का एक अद्वितीय वैदान्तिक मायावादि संन्यासी रहता था, जिसकी पाण्डित्य-प्रतिभा भारत में विख्यात थी। वह प्रभु के श्रीहरिनाम, कीर्तन-नृत्यादि का विरोधी था। प्रभुने कृपा कर उसका उद्धार किया। शिष्यों सहित श्रीप्रकाशानन्द ने वैष्णव-धर्म ग्रहण कर लिया। इस प्रकार तब से काशी नगरी संकीर्तन-ध्वनि से गूञ्ज उठी।

श्रीसनातन-शिक्षा

काशी में ही श्रीपाद सनातन आ कर प्रभु से मिले। दो मास वहां रह कर प्रभु ने उनको समस्त तत्व-शिक्षा दी। काशी से प्रभु नीलाचल लौट आये, प्रभु के दर्शन करके भक्तगणों ने नव-जीवन प्राप्त किया। इसी तरह अनेक स्थानों पर भ्रमण करने में संन्यास के प्रथम छः वर्ष बीत

गये। श्रीमहाप्रभु श्रीवृन्दावन से नीलाचल आकर फिर कहीं दूर देश में नहीं गये। बीच बीच में केवल थोड़े समय के लिये आलालनाथ जाते थे।

नीलाचल में विरह-लीला

शेष अठारह वर्ष प्रभु ने नीलाचल में श्रीस्वरूपदामोदर, राय रामा-नन्दादि अन्तरङ्ग भक्तवृन्दों के साथ तीव्र-विरहोत्कण्ठाजनित श्रीकृष्ण-कथा रस में व्यतीत किये। महाप्रभु उस समय प्रायः श्रीकृष्ण-विरह में विह्वल रहते थे। प्रभु के शरीर पर नानाविधि भावों की प्रबल बाढ़ रहा करती थी। उसके प्रभाव से कभी तो इनके हाथ-पांव देह में प्रवेश कर जाते—शरीर कूर्माकृति धारण कर लेता और कभी हाथ-पांव की प्रत्येक अस्थि सन्धि बालिश्त भर बढ़ जाती और शरीर दीर्घाकार हो जाता। कभी वे श्रीराधा-भाव में विरहणि-रमणी की भांति श्रीकृष्ण के लिये रोदन करते और कभी श्रीकृष्णस्फूर्ति के आनन्द में मूर्छित हो जाते। कभी विरह वेदना में दीवारों से ठोकरें खाने लगते तो कभी श्रीयमुना जानकर समुद्र में ही कूद पड़ते। गौड़ीय-भक्तवृन्द प्रति वर्ष रथयात्रा-उपलक्ष में नीलाचल जाकर प्रभु-चरण-दर्शन करते। कभी कभी भक्तों की स्त्रियां भी साथ जाती थीं जो दूर से ही इनके दर्शन करतीं। क्योंकि प्रभु संन्यास-ग्रहण के बाद स्त्री-दर्शन नहीं करते थे। गौड़ीय-भक्त-वृन्द वर्षा ऋतु के चार मास नीलाचल निवास करते। कोई घर में रसोई करता, कोई श्रीजगन्नाथ का महाप्रसाद ले आ कर प्रभु को भिक्षा कराता। उनके साथ प्रभु कुछ अनमने से ही रहते; चातुर्मास्य के बाद उनके चले जाने पर प्रभु फिर श्रीकृष्ण-विरह सागर में डूब जाते।

श्रीप्रतापरुद्र व रायरामानन्द

श्रीजगन्नाथ-पुरी का राजा श्रीप्रतापरुद्र महाप्रभु को आत्मसमर्पण कर कृतार्थ हो चका था। रायरामानन्द, विद्यानगर के राजप्रतिनिधि थे। परम पण्डित एवं परम वैष्णव थे। दक्षिण में भ्रमण करते समय गोदावरी के तीर पर प्रभु उनसे मिले थे एवं उनके मुख से साध्य-साधन-तत्व, श्रीकृष्ण तत्व, श्रीराधा-तत्व, प्रेम-तत्व एवं रस-तत्वादि प्रकाशित कराये थे। प्रभु के गुणों में मुग्ध हो कर रायरामानन्द राजा प्रतापरुद्र की अनुमति ले कर

प्रभु के निकट नीलाचल में आकर वास करने लगे थे। उनके और भी चारों भाई एवं उनके पिता श्रीभवानन्दराय भी प्रभु के अनुगत-भक्त बन गये।

श्रीवासुदेव सार्वभौम

काशी निवासी श्रीप्रकाशानन्द सरस्वति की तरह श्रीवासुदेव सार्वभौम भी नीलाचल में एक प्रसिद्ध वैदान्तिक-पण्डित थे, जो अनेक संन्यासियों को वेदान्त पढ़ाते थे। प्रभु जब पहले पहले नीलाचल पधारे तब उन्होंने प्रभु को भी सात दिन वेदान्त सुनाया। किन्तु बाद में जब प्रभु के मुख से वेदान्त की व्याख्या सुनी तो विस्मित हो उठे। श्रीमहाप्रभु ने कृपा कर उनको अंगीकार कर लिया, श्रीसार्वभौम इनके अत्यन्त अनुगत-भक्त हो गये। नीलाचल में प्रभु के और भी अनेक पार्षद थे, जो प्रभु की सेवा कर कृतार्थ हुए।

लीलावसान

१४५५ शकाब्द तदनुसार सम्वत् १५९० में ४८ वर्ष की आयु होने पर प्रभु ने लीला का संवरण किया। इनकी लीला-समाप्ति एक रहस्यमय घटना है। कोई कहते हैं; कि ये श्रीगोपीनाथ के विग्रह में लीन हो गये और कोई कहते हैं, ये श्रीजगन्नाथजी के विग्रह में मिल गये। जैसे भी हो, श्रीमन्महाप्रभु अन्तर्हित हो गये। बहुत दिन पीछे अभागे भारत की शिखर पर जो एक स्निग्ध-ज्योतिपुञ्ज उदित हुआ था, वह अन्तर्हित हो गया। भक्तवृन्द अपने प्राण-धन को खो कर जीवन्मृत-वत् निरानन्द पृथ्वी-तल पर अत्यन्त कष्ट से अपने भारी बोझरूप देह को धारण करते हुए कुछ काल पीछे अपने प्रेम-सागर-प्रीतम के निकट चले गये।

श्रीमहाप्रभु के आविर्भाव से पहले देश की अवस्था

श्रीमन्महाप्रभु जब नवद्वीप में अवतीर्ण हुए तब बंगाल में धर्म-भाव की अवस्था बहुत शोचनीय थी। पण्डित लोग केवल रूखी विद्या-चर्चा में व्यस्त थे। विद्या-शिक्षा के मुख्य उद्देश्य भगवत्-भजन को भूल रहे थे। जो विषयी थे, वे आठों पहर विषय-कर्मों में ही लिप्त रहते थे एवं उन्होंने विषयों के उन्नति-साधन को ही परम-पुरुषार्थ मान रखा था। वे पाप को

पुण्य कह कर विषय-भोगों में जुरे हुए थे। भवरोग-निवृत्त के लिये उनमें भक्ति की गन्ध मात्र भी न थी।

श्रीअद्वैताचार्य का संकल्प

जो लोग कुछ धर्म-कर्म करने का उत्साह भी करते तो मंगल-चण्डी गीत एवं विषहरि की पूजा ही उनका प्रधान अनुष्ठेय होता। यह थी देश की साधारण अवस्था। जो एकान्त-चित्त से श्रीकृष्ण-भजन करते उनकी अति-अल्प संख्या थी। साधारण लोग उनका आदर्श अनुसरण न कर उनका उपहास ही करते थे। देश की यह अवस्था देख कर भक्तों के प्राण रो उठते। श्रीअद्वैताचार्य जान गये—कि जगत् की जो अवस्था है उसे स्वयं श्रीकृष्ण के बिना और कोई संवार ही नहीं सकता—

आपनि कृष्ण यदि करेन अवतार।
आपनि आचरि भक्ति करेन प्रचार॥

यदि श्रीकृष्ण आप ही अवतार लेकर भक्ति का आचरण कर भक्ति का प्रचार करें तब ही जीवों का उद्धार हो सकता है। ऐसा निश्चय करके उन्होंने संकल्प कर लिया था कि—

शुद्ध भावे करिब कृष्णेर आराधन।
निरन्तर सदैन्ये करिब निवेदन॥
आनिया कृष्णेर करों कीर्तन सञ्चार।
तबे से 'अद्वैत' नाम सफल आमार॥

मैं शुद्ध भाव से श्रीकृष्ण का आराधन करूँगा तथा निरन्तर दैन्य पूर्वक निवेदन करूँगा। श्रीकृष्ण को ही ला कर कीर्तन सञ्चार करूँगा तब ही मेरा 'अद्वैत' नाम होगा। श्रीअद्वैताचार्य अपने संकल्पानुरूप कार्य करने लगे। ठाकुर श्रीहरिदास भी श्रीनाम-संकीर्तनादि द्वारा उनकी अनुकूलता करने लगे। कुछ दिन बाद श्रीमन्महाप्रभु अवतीर्ण तो हो गये किन्तु कई वर्ष पीछे इन का प्रभाव देख कर ये जान गये कि इनकी आराधना फलवती हुई है—मरू भूमि में सुर-तरंगनि प्रवाहित होने का सुयोग प्राप्त हुआ है और अब जीवों को उद्धार हो जाएगा।

आविर्भाव-फल

वास्तव में श्रीगौराङ्ग के आविर्भाव के साथ साथ एक नवीन युग प्रवर्तित हो गया। अप्राकृत गोलोक-धाम से एक स्निग्ध मधुर-भावधारा बङ्गाल के मरुभूमि-तुल्य-शुष्क प्राङ्गन में आविर्भूत हो गई—शुष्कतरु मञ्जुरित हो उठे, मृन्मयी-प्रतिमा ने चिन्मयी-आनन्दघन-मूर्ति होकर स्निग्ध हास्यविमण्डित-मृदु मधुरकलभाषण से चारों ओर जैसे आनन्द की एक नदी सी प्रवाहित कर दी हो, ऐसा प्रतीत होने लगा।

उपास्य का आकर्षकत्व

श्रीमन्महाप्रभु ने बङ्गाल के धर्मराज्य में एक अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। श्रीभगवान् का जो रूप उन्होंने जीव को साक्षात् कराया, पूर्ववर्ति किसी भी आचार्य ने उसके सम्बन्ध में कभी विशेष भाव से संकेत नहीं किया था। यह रूप कैसा है ?—जिस रूप में ऐश्वर्य का आतंक नहीं, किन्तु माधुर्य का प्रीतिपूर्ण आकर्षण ही है। जिसके हाथ में पापियों के लिये हृतकम्पोत्पादनकारी तीक्ष्ण कण्टकमय ज्वलन्त लोह-दण्ड नहीं, किन्तु सर्व-चित्ताकर्षक 'मोहनवंसी' ही है; जिसे देखकर दूर से ही सन्त्रस्त-हृदय पूर्वक कांपते हुए दोनों हाथों को बान्धकर चुप चाप खड़े रहने की इच्छा नहीं होती, इच्छा होती है—दौड़ कर कोटि-मन्मथ-मनोरथ-स्निग्धहास्योज्ज्वल सर्वात्मविस्मापन-असमोर्ध्व-माधुर्यमयरूप को हृदय से लगाने की। क्या इस रूप के लिये श्रीमहाप्रभु की एक नवीन परिकल्पना थी ?—नहीं-नहीं श्रुतिने परतत्ववस्तु का जा परिचय दिया है, प्रभु ने उसका समुज्ज्वल चित्र जगत् के सामने साक्षात् प्रगट कर दिया। श्रुति कहती है—परतत्ववस्तु आनन्दस्वरूप एवं रसस्वरूप हैं। किन्तु उसके आनन्दस्वरूप एवं रसस्वरूपत्व का तात्पर्य क्या ? इसको जाज्ज्वल्यमान भाव में इनसे पहले किसी ने भी नहीं जनाया। 'भगवत्ता का सार क्या है' यह भी इनकी तरह सुन्दरभाव से पहले किसी ने नहीं बताया। साधारण लोगों की यह धारणा थी कि—ऐश्वर्य ही भगवत्ता का सार है, यही कारण था कि वे लोग भगवान् के नाम से भयभीत हो उठते थे। किन्तु श्रीमन्महाप्रभु ने ही सब से पहले जलद-गम्भीरस्वर से यह घोषणा की, कि 'माधुर्य ही भगवत्ता का सार है।' श्रुति-कथित आनन्द-स्वरूपत्व का यही चरम-तात्पर्य है। श्रीमहा-

प्रभु ने और यह भी बताया कि परतत्व में इस माधुर्य का विकाश इतना सर्वातिशायी है कि वह कोटि ब्रह्माण्ड-परव्योम के स्वरूपों के मन को, तथा लक्ष्मी जिसे वेद-वाणी पतिव्रता-शिरोमणि कहती है, उसके मनको भी वरवश हर लेता है। यही आनन्दघन, रसघन एवं माधुर्यघन-विग्रह अखिल-रसामृतवारिधि ही परतत्ववस्तु हैं, जो—

पुरुष योषित किंवा स्थावर जङ्गम।
सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथ मदन॥

—पुरुष-नारी स्थावर-जङ्गम, सब के चित को आकर्षण करने वाले साक्षात् कामदेव के मन को भी वह माधुर्य मथन करने वाला है, और तो क्या—आत्मपर्यन्त सर्वचित-हर है श्रीभगवान् के अपने भी चित को हरने वाला है। इस अद्भुत स्वरूप का परिचय सर्वप्रथम श्रीमन्महाप्रभु ने ही जगत् को दिया।

साधन का आनन्द-दायकत्व

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित साधन-पथ भी अपूर्व है। इस में जाति कुल का, धनवान-दरिद्र का एवं पण्डित-मूर्ख का कोई विचार नहीं। देश-काल का कोई नियम नहीं। इस पथ में हर एक प्राणी, हर समय, हर स्थान पर एवं हर अवस्था में श्रीकृष्ण-भजन कर सकता है। श्रीगौराङ्ग ने कितने कोल-भील, अन्ध पुलिन्द आदि अनेक श्वानभोजी-हीनाचार तथा अनेक यवनों पर भी कृपा करके उन्हें वैष्णव बना दिया—उनका त्याग नहीं किया। इनके प्रदर्शित साधन-पथ में कोई भी दुख नहीं, किन्तु एक अपूर्व आनन्द ही है। साधन में ही आनन्द है, सिद्धावस्था की तो बात ही क्या। इन्होंने संसार में एक प्रेम की नदी प्रवाहित करदी। उसके प्रबल प्रवाह में साधन-विषयी समस्त सामाजिक तथा लौकिक बाधा-विघ्न—अनधिकारादि बह गए।

साहित्य पर प्रभाव

श्रीगौराङ्ग के आविर्भाव से बंगला-साहित्य में भी एक नूतन युग उद्भव हुआ। उनको एवं उनके प्रवर्त्तित धर्म को उपलक्ष्य करके जो साहित्य

भण्डार में चमत्कार हुआ, वह आज पर्यन्त भी बंग-भाषा तथा बांगालियों के लिये गौरव का विषय है। वह साहित्य बांगला एवं संस्कृत इन दो श्रेणियों में है। बांगला पदावली, साहित्य का लालित्य एवं नित्य नूतन रसधारा चिरकाल पर्यन्त रसज्ञ-भावुकों के चित्त को मुग्ध रखने को समर्थ है। बंग-भाषा में लिखित सर्वप्रथम चरित-कथा श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकृत **'श्रीश्रीचैतन्यभागवत'** है। उसके बाद श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीकृत **'श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत'**। श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत केवल चरित कथा ही नहीं एक दार्शनिक ग्रंथ भी है। वैष्णवाचार्य गौड़ीय गोस्वामिवृन्द ने संस्कृत भाषा में बहुत तत्वग्रन्थ एवं लीलाग्रन्थ लिखे। श्रीरूपगोस्वामी के **श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु** एवं **'उज्ज्वलनीलमणि'** अति अपूर्व ग्रन्थ हैं। ऐसे ग्रन्थ इनसे पहले किसी ने भी नहीं लिखे। श्रुति कहती है—रसस्वरूप परतत्ववस्तु को प्राप्त कर जीव आनन्दी हो सकता है एवं जीव की चिरन्तनी सुखवासना की चरमातृप्ती तव ही हो सकती है। कौनसा साधन पथ अवलम्बन करने से किस भाव से वह रसस्वरूप प्राप्त हो सकता हो सकता है? साधन पथ पर अग्रसर होते होते रसस्वरूप की अनन्त रस-वैचित्री कैसे साधक के चित्त में क्रमशः अभिव्यक्त होती है? यह सब विज्ञान सम्मत पथ से श्रीरूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिंधु' में विवृत किया है। इनका 'उज्ज्वलनीलमणि' भगवत्-प्रेमसम्बन्धीय ग्रन्थ है। प्रेम की अनेकों स्तर, उनकी विकाश-धाराएँ एवं प्रत्येक का प्रभावादि इस ग्रन्थ में विज्ञान-सम्मत रीति से वर्णित है। श्रीरूप ने अपने **'श्रीलघुभागवतामृत'** ग्रन्थ में विभिन्न भगवद्-स्वरूपों का समन्वय एवं परस्पर सम्बन्ध-कथा का एक अपूर्व निपुणता से वर्णन किया है। श्रीसनातन गोस्वामी का **'श्रीवृहद्भागवतामृत'** एक अति अपूर्व सिद्धान्त ग्रन्थ है। श्रीजीव गोस्वामी का **'षट्सन्दर्भ'** एक दार्शनिक ग्रन्थ है। **तत्व-सन्दर्भ, परमात्म-सन्दर्भ, भगवत-सन्दर्भ, श्रीकृष्ण-सन्दर्भ, भक्ति-सन्दर्भ** एवं **प्रीति-सन्दर्भ** ये छः सन्दर्भ **'षट्-सन्दर्भ'** के अन्तर्भुक्त हैं। इनका **'श्रीगोपालचम्पू'** श्रीकृष्ण की प्रकट अप्रकट-लीला सम्बन्धीय अनेक-तत्व पूर्ण एक विराट ग्रन्थ है। इन गोस्वामीवृन्द ने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। काव्य, अलङ्कार, नाट्य, व्याकरण—किसी भी विषय का अभाव इन ग्रन्थों में नहीं है। जीवन का एक महूर्त भी जिस से भगवत्-प्रसङ्ग बिना व्यतीत न हो, इस उद्देश्य को लेकर संस्कृत शिक्षार्थियों को समस्त ग्रन्थों के अध्यापन कराने की व्यवस्था भी इन्होंने की।

काव्यालङ्कारादि से ही भगवत्-प्रसङ्ग सहज में अन्तर्भुक्त हो सकता है, किन्तु अपूर्व चतुरता से इन्होंने व्याकरण के मध्य भी उसका प्रवेश कराया। श्रीजीव गोस्वामी के **'श्रीहरिनामामृत-व्याकरण'** के सूत्र समूह भी श्री हरिनामात्मक हैं उदाहरण भी श्रीहरिलीला विषयक हैं। कविराज गोस्वामी श्रीकृष्णदास का **'श्रीगोविन्दलीलामृत'**, श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्ती का **'श्रीकृष्णभावनामृत'** एवं कवि श्रीकर्णपूर्ण का **'श्रीआनन्द-वृन्दावनचम्पू'** भक्ति मार्ग के साधकों के लिये भजन-पुष्ठि निमित्त अति-चमत्कारी लीला-ग्रन्थ है। श्रीबलदेव विद्याभूषण के **भाष्यपीठक, श्रीप्रमेय-रत्नावली** एवं **'श्रीगोविन्दभाष्य'** ये तीनों दार्शनिक ग्रन्थ हैं। श्रीगोविन्द-भाष्य वेदान्त सूत्रों का श्रीमन्महाप्रभु-मत्तानुकूल भाष्य है। इन गोस्वामिवृन्द आचार्यों ने और भी अनेक ग्रन्थ सङ्कलन किये हैं।

भाव का गाम्भीर्य, रस का परिपाट्य, आस्वादन का चमत्कारित्व तथा भजन के पोषकत्व की रक्षा करते हुए जिस प्रकार वैष्णव-पदावली का प्रच्युर-प्रचार हो सके, उसके लिये श्रीनरोत्तमदास ठाकुर आदि वैष्णव-महाजनगण ने अभिनव-सुरतालादिका भी आविष्कार किया।

समाज-संस्कार

बाह्य दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है कि श्रीगौराङ्ग ने समाज-संस्कार में विशेष मनोयोग नहीं दिया, किन्तु वे यह जानते थे कि हिन्दू धर्म पर सर्वापेक्षा अधिक प्राधान्य देने से ही वास्तव में सामाजिक-आचार-पद्धति की रक्षा हो सकती है, तथा आत्म-धर्म ही मनुष्य की एक मात्र काम्यवस्तु है। भारतीय ऋषिगण एवं उनके अनुगामी समाज-सम्बन्धीय विधि-व्यवस्था देने वालों ने भी मनुष्य-जीवन में आत्म-धर्म को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया है। लोक-धर्म, समाज-धर्मादि को आत्म धर्म के अनुगतरूप में ग्रहण किया है। तभी तो गर्भ-सञ्चार से आरम्भ कर श्राद्ध-पर्यन्त समस्त लौकिक-अनुष्ठानों को उन्होंने आत्म-धर्म पर प्रतिष्ठित किया। श्री विष्णु को छोड़कर हिन्दु जाति का कोई अनुष्ठान ही नहीं है। दैनिक-व्यापार में भी ठीक यही व्यवस्था है, हिन्दू-समाज का यही एक अपूर्व-वैशिष्ट्य है। इसी बात को जानते हुए श्रीमहाप्रभु ने बताया, कि यदि समाज में आत्मधर्म-भावों का समुज्ज्वलरूप से प्रचार किया जाये, तो प्रयोजनीय समाज-संस्कार स्वतः ही हो सकता है।

भजन के सम्बन्ध में इन्होंने कहा—

"श्रीकृष्ण-भजने नाहिं कुलादि विचार"

—"श्रीकृष्ण-भजन में जाति-कुलादि का विचार नहीं है। प्राणी मात्र श्रीकृष्ण-भजन का अधिकारी है।" इन्होंने कार्यतः यही दिखलाया भी। इनके प्रभाव को देखकर अनेक मुलसमान भी वैष्णव-धर्म में दीक्षित हुए।

साम्य

आज के साम्य (समान-दृष्टि) की अपेक्षा श्रीगौराङ्ग का साम्य अनेकाधिक व्यापक था। 'मनुष्य मनुष्य का जो भेद, उसे दूर करना' यह आज का साम्य है। किन्तु परमोदार महाप्रभु की नीति तो 'जीव मात्र में जो भेद है, उसे दूर करने की थी। इन्होंने जीव मात्र में भेद दूर करने की नीति का प्रचार, जीव के जीवत्व को दिखाते हुए इन शब्दों में किया—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो,
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्द पूर्णामृताब्धे,
गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

पद्यावल्यां (७२)

—"मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नहीं हूँ, मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी नहीं हूँ। किन्तु अत्योज्ज्वल-निखिल-परमानन्द पूर्णामृत-सागर में गोपियों के पति (श्रीब्रजेन्द्रनन्दन) के जो चरण कमल हैं, मैं उनके दासों का दासानुदास हूँ।"

वस्तुतः "निखिल-परमानन्द पूर्णामृत-सागर भगवान् श्री श्याम-सुन्दर के चरण-कमलों का दास मैं हूं एवं स्थावर-जङ्गमात्मक और सब जीव भी उनके दास हैं"—यह अनुभूति जिसके चित्त में जागृत हो उठे, वही मनुष्य केवल सबके प्रति समदर्शी हो सकता है। इस प्रकार का साम्य ही प्रीति-पूर्वक सुरक्षित हो सकता है, कारण कि इस साम्य का मूलाधार आनन्दघन विग्रह श्रीभगवान् हैं एवं उनके चरणकमलों के मधु-आस्वादन का परम-आनन्द। "समस्त जीव उस आनन्दामृत-परिपूर्ण सिन्धु में सराबोर

हो रहे हैं, सब उनके चरण-कमलों के मकरन्द-लोभ से उनकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं, सबका उद्देश्य उसी सर्वजन सेव्य की अहैतुकी-सेवा है, सबका श्रीभगवान् के साथ एवं परस्पर एक नित्य अविच्छेद्य परम मधुर प्रीति-बन्धन है" ऐसी अनुभूति ही साम्य-भाव को स्वतः स्फूर्त्त रख सकती है। इसी स्वतःस्फूर्त साम्य को श्रीमन्महाप्रभु ने ही प्रकाशित किया, जिसके सामने आज का यत्नकृत व कर्त्तव्य बुद्धिजात साम्य अति तुच्छ है।

सेवा

श्री मन्महाप्रभु ने कहा है—

"भारत भूमिते हैज मनुष्य जन्म यार।
जन्म सार्थक कर करि पर-उपकार ॥"

श्रीचैतन्य चरितामृत १।९।३९

—"भारत भूमि में जिसने मनुष्य-जन्म पाया है वह परोपकार कर जन्म को सफल करे।" परोपकार से ही जन्म की सार्थकता है। दुख दूर करना ही परोपकार है। समस्त दुखों के मूल संसार-बन्धन से मुक्त कराने में सहायता करना, सर्वापेक्षा बड़ा उपकार माना गया है, जो प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। किन्तु अन्नदान, वस्त्रदान आदि द्वारा अथवा मनसा-वाचा-कर्मणा भी प्राणी मात्र का उपकार करना कर्तव्य है। उपकार-चेष्टा के पश्चात् कोई भी स्वार्थानुसन्धान न रहे एवं कोई भी उपकार-प्रार्थी निराश न जाय, इसके लिये श्रीमहाप्रभु ने वृक्ष का दृष्टान्त उद्धरण किया—

सर्व प्राणीर उपकार हय वृक्ष हईते।

श्रीचैतन्य चरितामृत १।९।४१

"वृक्ष येन काटि लेय किछु न बोलय।
शुखाईया मैले कारे पानी न मागय ॥
येई ये मांगये तारे देय आपन धन।
धर्म वृष्टि सहे आनेर करये रक्षण ॥"

श्रीचैतन्य चरितामृत २-२०-१८,१९

—"वृक्ष सब प्राणियों का उपकार करता है। वृक्ष को काट भी लिया जाये तो भी वह कुछ बोलता नहीं। सूखकर नष्ट हो जाता है, परन्तु

अपने लिये किसी से पानी तक नहीं मांगता। जो कोई भी जो कुछ मांगे, वृक्ष उसे अपनी सब सम्पत्ति दे देता है। स्वयं धूप-वर्षा सहन कर दूसरे की रक्षा करता है।—श्रीमहाप्रभु ने और यह भी बताया कि उपकारी अपने मन में अनुग्राहक-भाव (मैं उपकार करने वाला हूँ, ऐसा भाव) न लाकर अपने सम्बन्ध में सेवक-भाव तथा उपकृत के (जिस पर उपकार किया है, उसके) प्रति सेव्य भाव की धारणा रखे। यथा—

"जीवे सन्मान दिवे जानि कृष्णेर अधिष्ठान"

श्रीचैतन्य चरितामृत ३।२०।२०

श्रीकृष्ण अधिष्ठान जानकर जीव मात्र को सन्मान देना चाहिये। 'उपकार रूप सेवा-सौभाग्य से अपने को ही कृतार्थ जानना'—श्रीमहाप्रभु का सेवा-आदर्श है।

अहिंसा एवं सहिष्णुता

शरीर से किसी की हिंसा करना दूर रहा, श्रीमन्महाप्रभु ने तो कहा है—

'प्राणीमात्रे मनोवाक्ये उद्वेग न दिवो।'

श्रीचैतन्य चरितामृत २-२-२६

—"वाणी से अथवा मन से भी किसी प्राणी का अनिष्ट-चिन्तन कर उसको उद्वेग नहीं देना चाहिये।"—यह उपदेश प्रभु ने चौसठ-अङ्ग साधन-भक्ति के अन्तर्भुक्त कहा, अर्थात् उनको इस मजनाङ्ग को अवश्य पालन करने का आदेश दिया। हिंसा करने वाले की भी हिंसा न करना एवं उसकी अनिष्ट-चिन्ता तक भी न कर वरं यथासाध्य उस पर भी उपकार करना, यही है श्रीमहाप्रभु का उपदेश।

सहिष्णुता के सम्बन्ध में इनका विशेष उपदेश है कि—

'तरोरिव सहिष्णुणा'

—"वृक्ष की भांति सहनशील होना चाहिये।" दूसरे के अत्याचार उत्पीड़न, दुर्व्यवहार आदि को, अपना ही उपार्जित अर्थात् अपने पूर्व जन्मों का कर्म-फल समझकर एवं प्राप्त होने योग्य ही जानकर सहन करना

चाहिये। "दूसरे का इसमें कुछ दोष नहीं है, मेरा स्वोपार्जित कर्मफल ही इसके योग से मुझे प्राप्त हुआ है। इसने मुझे अपना कर्मफल भुगवाकर मुझ पर बहुत उपकार किया है" ऐसी चिन्ता करते हुए उसे सहर्ष सहन करना चाहिये। "भुञ्जान एव आत्मकृतं विपाकम्"—यही श्री महाप्रभु का आदर्श है।

स्वावलम्बता

श्रीगौराङ्गप्रभु की यह आज्ञा है कि दूसरों पर निर्भरशील न होकर स्वावलम्बी बनकर जीवन निर्वाह करना चाहिये। यथा:—

"निरपेक्ष्य ना हैले धर्म न जाय रक्षणे"

(चै० च० ३-३-२२)

"वैरागी हईया येवा करे परापेक्षा।
कार्य सिद्ध नहे कृष्ण करेन उपेक्षा॥"

(चै० च० ३-६-२२२)

—"जब तक मनुष्य अपना निर्वाह आप करने वाला न हो, धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। —"वैरागी होकर जो दूसरे पर निर्भर करता है, उसके कार्य की सिद्धि नहीं होती तथा श्रीकृष्ण भी उसकी उपेक्षा करते हैं।"

प्रीति एवं मैत्री

प्रीति तो श्रीगौराङ्ग की समस्त शिक्षाओं का सार है। भगवत्-प्रीति इनके प्रचारित-धर्म का प्राण है। जागतिक-प्रीति को इन्होंने भगवत्-प्रीति का प्रतिफलन ही मानकर स्वीकार किया है। 'प्रीति प्रीति को आकर्षण करते हुए समस्त समस्याओं का समाधान कर देती है, यह श्रीमहाप्रभु ने अपनी लीला में अनेक बार दिखाया। श्रीगौरसुन्दर की सर्व चित्ताकर्षिणी-प्रीति ने ही तो यवनराजा के चित्तको आकृष्ट कर इनके चरणों में झुका दिया एवं इन्हीं के सार्वजनीन-प्रेम ने ही मध्यस्थ होकर राजा प्रतापरुद्र एवं यवनराज में सन्धि करा दी और वे दोनों परस्पर परम मित्र बन गये।

विचार एवं आलोचना

ग्रहस्थाश्रम में रहते हुए श्रीनिमाई जब नदियानगर में श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन-प्रचार कर रहे थे, तब एक दिन नगर-कीर्तन करते हुए वे नवद्वीप के शासक काजी के घर पहुंचे। वहां उसके साथ गोवध सम्बन्धीय विचारमूलक-आलोचना हुई। मुसलमान-काजी श्रीमहाप्रभु के आगे झुक गया और सदा के लिये उसने गोवध-बन्द करा दिया।

संन्यास धारण करने के बाद नीलाचल में श्रीपादसार्वभौम के साथ एवं वाराणसी में संन्यासियों के गुरु श्रीपादप्रकाशानन्द सरस्वती के साथ वेदान्त के शंकरभाष्य के सम्बन्ध में प्रभु का विचार हुआ। श्रीपाद शंकर आचार्य ने श्रुतियों का अर्थ लक्षणावृति से कर वेदान्त का भाष्य लिखा है। किन्तु श्रीमन्महाप्रभु का मत है कि मुख्यावृति से अर्थ करने से ही श्रुतियों का प्रकृत अर्थ पाया जाता है; लक्षणावृति से नहीं। विशेषतः लक्षणावृति द्वारा अर्थ करने से श्रुति की स्वतः-प्रमाणता की हानि होती है। श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभु ने श्रीपाद शंकराचार्य का लक्षणार्थ खण्डन कर वेदान्त-सूत्र का मुख्यार्थ प्रकाश किया। मुख्यतः उल्लेखनीय-प्रसङ्ग यह है:—

१. ब्रह्म का निर्विशेषत्व खण्डन कर सविशेषत्व, षड़ैश्वर्य-पूर्णत्व तथा स्वयं-भगवतत्व का मण्डन।

२. जीव-ब्रह्म का अभेदत्व खण्डन कर जीव का अणुत्व, ब्रह्म-शक्तिकत्व एवं नित्य श्रीकृष्ण-दासत्व निरूपण।

३. भगवद्-विग्रह का मायिक-सात्विक-विकारत्व खण्डन पूर्वक सच्चिदानन्दघनत्व निर्णय।

४. सृष्टि के सम्बन्ध में विवर्तवाद का खण्डन कर परिणामवाद की स्थापना;

५. 'तत्वमसि'-वाक्य का महावाक्यत्व खण्डन कर प्रणव का महावाक्यत्व स्थापन, तथा उन्होंने प्रतिष्ठित किया कि:—

६. श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं।
७. श्रीकृष्ण ही समस्त वेदों का सम्बन्ध-तत्व हैं।
८. भक्ति ही अभिधेय-तत्व है।
९. प्रेम ही प्रयोजन-तत्व है।

१०. ब्रह्म और जीव में सेव्य-सेवकत्व का सम्बन्ध है एवं श्रीकृष्ण-सेवा ही जीव की चरमतम-काम्य वस्तु है; सायुज्मुक्ति नहीं।

दक्षिण में भ्रमण करते हुए गोदावरी तीर पर रायरामानन्द के साथ श्रीगौराङ्ग ने साध्य-साधनतत्व की आलोचना की। उस आलोचना में रायरामानन्द वक्ता तथा श्रीमहाप्रभु प्रश्नकर्ता एवं श्रोता थे। 'श्रीराधा-प्रेम ही साध्य-शिरोमणि है, एवं रागानुगामार्ग के भजन से ही उस प्रेम की आनुगत्यमयी सेवा प्राप्त हो सकती है'—यही उस आलोचना का सार है।

श्रीरंगक्षेत्र में श्रीवेङ्कटभट्ट के साथ प्रभु ने वर्षा के चारमास तक अवस्थान किया। श्रीवेङ्कटभट्ट श्रीपाद रामानुजाचार्य-प्रवर्तित श्री-सम्प्रदायी वैष्णव थे। वे श्रीलक्ष्मीनारायण के उपासक थे। उनकी भक्ति-निष्ठा देखकर श्रीगौराङ्ग उनसे अत्यन्त प्रीति करते थे। भट्टजी की भी इनमें पूर्ण श्रद्धा थी। प्रायः दोनों में भजनीय-विषय पर विचार हुआ करता था। एक समय दोनों ने शास्त्रप्रमाण अनुसार सिद्धान्त किया, कि श्रीकृष्ण एवं श्रीनारायण अभिन्न-स्वरूप होते हुए भी सौन्दर्य, माधुर्य एवं लीलारस-वैचित्री में श्रीनारायण की अपेक्षा श्रीकृष्ण का ही सर्वातिशायी-उत्कर्ष है; क्योंकि श्रीनारायण-वक्षविलासिनी श्रीलक्ष्मीदेवी ने भी ब्रज में श्रीकृष्ण सेवा प्राप्त करने के निमित्त कठोर तपस्या की है। श्रीमहाप्रभु ने कहा है:—

कृष्ण नारायण यैछे एकई स्वरूप।
गोपी लक्ष्मी भेद नाहिं, हय एक रूप॥
गोपी द्वारा लक्ष्मी करे कृष्ण संगास्वाद।
ईश्वरत्वे भेद मानिले हय अपराध॥
एकई ईश्वर भक्तेर ध्यान अनुरूप।
एकई विग्रह धरे नानाकार रूप॥

(चै० च० २-९-१३९-४१)

—"श्रीकृष्ण और श्रीनारायण जैसे एक स्वरूप हैं, वैसे गोपी तथा श्रीलक्ष्मी में भेद नहीं, एकरूप हैं। गोपीरूप से श्रीलक्ष्मी श्रीकृष्ण का संग-रसास्वाद करती हैं। ईश्वरत्व में भेद मानने से अपराध होता है। एक ही ईश्वर का एक ही विग्रह भक्तों के ध्यान अनुरूप नाना प्रकार के रूप धारण करता है।"

दक्षिण में भ्रमते हुए श्रीगौराङ्ग का श्रीबौद्धाचार्य के साथ भी तत्व-विचार हुआ। श्रीमहाप्रभु ने श्रीबौद्धाचार्य का मत-खण्डन कर अपना मत प्रतिष्ठित किया। दक्षिण की यात्रा करते समय श्रीपादमध्वाचार्य के अनुगत तत्ववादियों के साथ भी साध्य-साधन के सम्बन्ध में श्रीमहाप्रभु की आलोचना हुई थी। श्रीवृन्दावन से लौटती बार एक पठान के साथ कुरान के प्रतिपाद्य-विषय पर भी श्रीमहाप्रभु का विचार हुआ। इन्होंने बताया कि **कुरान** का प्रतिपाद्य भी सविशेष ब्रह्म है, भक्ति ही अभिधेय है एवं भग-वच्चरण-प्रीति ही प्रयोजन है। श्रीमहाप्रभु की कृपा से पठान-पीर अपने अनुयायियों के सहित वैष्णव-धर्म को ग्रहण कर कृतार्थ हो गया।

साम्प्रदायिकता का अभाव

श्रीमहाप्रभु के उपदेश एवं आचरण के आदर्श में, एक सम्प्रदाय में गठित होने पर भी, साम्प्रदायिक-सङ्कीर्णता नहीं थी। श्रीपाद शंकराचार्य प्रवर्त्तित ज्ञान-मार्गीय-सम्प्रदाय के साध्य एवं साधन को भक्ति विरोधी मानते हुए भी दक्षिण-यात्रा के समय श्रीमन्महाप्रभु श्रीशंकराचार्य के "सिंहारी-मठ" पर आकर रहे। ऐसे ही अन्य सम्प्रदाओं के आचार्यों तथा अनुयायियों के साथ भी इनका सदा मिलाप रहा हैं।



* श्रीराधारमणो जयति *

* जयगौर *

श्रीश्रीगौर-तत्व

यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा,
य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः।
षड़ैश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं,
न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह॥

उपनिषद् में (अद्वैतवादीगण) जिसे अद्वैत-ब्रह्म कहते हैं, वह श्रीकृष्णचैतन्य की अङ्गकान्ति है; योगशास्त्र में योगी जिसको आत्मा व अन्तर्यामी पुरुष कहते हैं, वह भी इनका श्रीकृष्णचैतन्य का अंश-विभव है, तत्व विचार में जिसको षड़ैश्वर्यपूर्ण भगवान् कहा गया है, वह स्वयं यही है, इस जगत् में श्रीकृष्णचैतन्य से भिन्न और कोई परतत्त्व नहीं है।

विज्ञमत के अनुसार ईश्वर-लक्षण—

श्रीमन्महाप्रभु के स्वरूप के सम्बन्ध में नीलाचल में सार्वभौम भट्टाचार्य के साथ उनके बहनोई श्रीगोपीनाथ आचार्य की आलोचना हुई थी। श्रीमन्महाप्रभु के सम्बन्ध में श्रीगोपीनाथ आचार्य बोले—

भगवत्ता लक्षणेर इहाँतेई सीमा। ताहा ते विख्यात ईंहो परम ईश्वर॥

श्री चै० च० २. ६. ७७-७८

श्रीमन्महाप्रभु में ही भगवत्तत्व के लक्षण समूह का चरम विकाश है अतः ये परम ईश्वर, स्वयं भगवान् हैं।

श्रीगोपीनाथ आचार्य की बात सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के शिष्य गण बोले—"श्रीकृष्णचैतन्य को किस प्रमाण से ईश्वर कहते हैं?" तब गोपीनाथ आचार्य बोले—

—'विज्ञमत ईश्वर-लक्षणे'

श्री चै० च० २. ६. ७६

श्रीकृष्णचैतन्य ईश्वर हैं, स्वयं भगवान् हैं—विज्ञमत ही इस बात का प्रमाण है। प्रश्न हो सकता है कि 'विज्ञमत' कहने से श्रीगोपीनाथ आचार्य का क्या उद्देश्य है ?'

श्रीगोपीनाथ आचार्य के पूर्व के वाक्यों से ही इस प्रश्न का उत्तर मिलजाता है। श्रीकृष्णचैतन्य के भगवतत्व के उल्लेख करते समय श्रीगोपीनाथ आचार्य ने श्रीमद्भागवत एवं महाभारत के कई श्लोकों का उल्लेख किया है इससे विदित होता है कि श्रीगोपीनाथ आचार्य के मन में 'शास्त्रवाक्य' ही विज्ञमत है इसलिये शास्त्र विज्ञ हैं। साधारणतः मन में यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति विशेष भी 'विज्ञ' नाम जाने जा सकते हैं, शास्त्र तो हुये ग्रन्थ विशेष, शास्त्र को किस रूप में 'विज्ञ' कहा जाय ? किन्तु अनेक शास्त्रों का आधार कहकर प्राचीन आचार्यों ने शास्त्र को 'सर्वज्ञ' कहा है। **वेदान्त दर्शन "शास्त्रयोनित्वात्"**। सूत्र के भाष्य में श्रीपाद शंकराचार्य ने ऋग्वेदादि शास्त्रों को "सर्वज्ञ कल्प" कहा है। **"महत् ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य-अनेक-विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थी व द्योतिनः सर्वज्ञ-कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।"** जो सर्वज्ञ या सर्वकल्प है उनको 'विज्ञ' कहना असंगति नहीं, सुतरां शास्त्रों के मत को ही विज्ञमत कहा जाता है।

'विज्ञमत' शब्द का दूसरी तरह से भी अर्थ हो सकता है। शास्त्र के जिस वाक्य को प्रमाण रूप में स्वीकार किया जाता है, और वह वाक्य जिसके मुख द्वारा प्रगट होता है उन्हें भी 'विज्ञ' कहते हैं और उनके वाक्य में जिस मत की अभिव्यक्ति होती है, उसे भी विज्ञमत कहते हैं। अब यह देखना होगा कि शास्त्र किसके वाक्यों को ग्रहण करते हैं।

श्रुति से यह विदित होता है कि चतुर्वेद, उपनिषद् इतिहास (महाभारत) एवं पुराण, यह सब परम ब्रह्म के निश्वास हैं "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो चतुर्वेदः सामवेदः अथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्योपनिषदः श्लोकाः ॥ मैत्रेयी उपनिषद् ॥ बड़े इतिहास पुराणादि परम ब्रह्म श्रीकृष्ण के श्वास होने से उनके वाक्य हैं—अपौरुषेय वाक्य। परम ब्रह्म सर्वत्र है, यह श्रुति प्रसिद्ध है। इसलिये ईश्वर या परम ब्रह्म श्रीकृष्ण 'विज्ञ' एवं उनके वाक्यरूप में जो शास्त्रादिक प्रगट हुये हैं वह विज्ञमत है। इससे भी यह विदित हुआ कि शास्त्रमत ही विज्ञमत है। शास्त्र ईश्वर के वाक्य हैं अतः उनमें भ्रम, प्रमाद आदि दोष भी नहीं रह सकते हैं।

भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा करणापाटव।
ईश्वर वाक्ये नाहिं दोष एई सब॥

श्री० चै० च० १. ७. १०२

अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों ने भगवान् के तत्व विषय में जो कहा है, किसी किसी ऋषि ने उन समस्त तत्वों में से किसी-किसी तत्व का अपरोक्ष रूप में साक्षात्कार प्राप्तकर जीव के कल्याणार्थ प्रकाश किया। उन्हीं समस्त ऋषियों के नाम से शास्त्रादिकों में उन समस्त तत्वों की कथा का उल्लेख है। सुतरां उन समस्त ऋषिगणों को भी विज्ञ कहा जाता है, और उनके नाम से जो शास्त्र-वाक्य मिलते हैं, उन समस्त वाक्यों में अभिव्यक्त मत को विज्ञमत कहा जाता है। इन समस्त वाक्यों में भी भ्रम प्रमादादि दोष नहीं होता है।

भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा करणापाटव।
आर्ष-विज्ञ वाक्ये नाहि दोष एई सब॥

श्री० चै० च० १. २. ७२

इससे भी यह विदित होता है कि—"शास्त्र मत ही विज्ञमत है।"

विज्ञमत के उदाहरणमें जब गोपीनाथ आचार्य ने केवल शास्त्र वाक्यों का ही उल्लेख किया और किसी व्यक्ति विशेष के मतका उल्लेख नहीं किया तो स्पष्ट रूप से ही यह ज्ञात होता है कि "शास्त्र मत ही एकमात्र विज्ञमत है" यह उनका अभिप्राय है। उपरोक्त आलोचना से यह भी ज्ञात हुआ कि अपौरुषेय शास्त्रों से ऋषिगणों के मत का पार्थक्य नहीं है, अतः ऋषियों का मत भी विज्ञमत है। इससे भी यही विदित होता है कि शास्त्रमत ही एकमात्र विज्ञमत है।

विज्ञ शब्द का क्या तात्पर्य है ?—अब उसकी विवेचना की जाती है। ज्ञान और विज्ञान जिस प्रकार दो वस्तु हैं, उसी प्रकार 'ज्ञ' एवं 'विज्ञ' दो वस्तु हैं। जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह 'ज्ञ' और जो विज्ञमत प्राप्त करते हैं, वह 'विज्ञ'।

किन्तु ज्ञान एवं विज्ञान कहने से क्या विदित होता है ? दूसरे की अनुभूति का नाम ज्ञान एवं अपरोक्ष व साक्षात् अनुमति का विज्ञान। जिन्होंने कभी बरफ देखी नहीं, किन्तु पुस्तक से अथवा दूसरे के द्वारा बरफ का स्वरूप या गुणादि के बारे में ज्ञान प्राप्त किया वह है उनका बरफ के सम्बन्ध में ज्ञान, किन्तु बरफ को हाथ में लेकर, उसका हाथ से स्पर्श करके,

या मुख में देकर जो उन्हें वरफ के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हुआ वह है विज्ञमत। ज्ञान शब्दों के द्वारा निर्धारण होता है, और विज्ञान होता है, साक्षात् अनुभव।

भगवान् ने चतुश्लोकी में ब्रह्मा से स्वयं अर्चन तत्व के प्रकाशार्थ ज्ञान और विज्ञान की बात कही है।

ज्ञानं परम गुह्यं मे यद् विज्ञान समन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥

श्री० भा० २. ९. ३०

श्रीभगवान् ने ब्रह्मा से कहा—कि मेरे सम्बन्ध में जो विज्ञान के सहित, परम गुह्य ज्ञान है। उसे मैं रहस्य के साथ, तुम्हें बता रहा हूँ, तुम ग्रहण करो।

इसके बाद भगवान् ने फिर कहा—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

श्री० भा० २. ९. ३१

मेरा जो स्वरूप है, मेरा जो लक्षण है, मेरा जो सब रूप है, गुण एवं कर्म (लीला) है, मेरे अनुग्रह से उस सम्बन्ध का विज्ञमत—यथार्थ अनुभव तुमको हो।

इससे विदित हुआ कि भगवत् अनुग्रह बिना, उसके सम्बन्ध में वास्तविक अनुभव या विज्ञान, ब्रह्मा को भी दुर्लभ है, आप जीवों की बात तो दूर रही। भगवतत्वादि स्वप्रकाश वस्तु हैं। भगवान कृपा करके जिसके समक्ष्य प्रकाश करते हैं, वही जान सकते हैं। दूसरों को वह विदित नहीं हो सकती—श्रुति भी यही कहती हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन एष लभ्यस्तस्यैष विवृणुते तनुं स्वाम्॥

विज्ञान की बात तो दूर रही भगवत् तत्वादि के सम्बन्ध में ज्ञान (परीक्षा अनुभव) भी उनकी कृपा बिना नहीं हो सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रों की आलोचना की जा सकती है—यह सत्य है, किन्तु भगवान् की कृपा बिना शास्त्रों का मर्म समझ में नहीं आयेगा, शिव की खोज में बाहर निकलने पर सम्भवतः बन्दर लेकर घर वापस आना होगा।

दिशा भ्रान्त व्यक्ति दक्षिण दिशा को भी पूर्व दिशा कह सकते हैं, यह जो उनका भ्रम है, वह सूर्योदय देखने से विदित हो जाता है। किन्तु विचार-विमर्श से जो अनुभव द्वारा भ्रान्त है, वह उनकी धारणा सहज में ही दूर नहीं हो सकती है, सूर्य ने जिन्हें, दक्षिण दिशा बतायी—वह पूर्व दिशा, यह धारणा अनेक समय उनकी रहती है। किन्तु कार्य होने पर उनको सूर्य के अनुसार ही चलना होगा। अन्यथा अनेक असुविधाओं के सन्मुखीन होना होगा। दिशा भ्रान्त व्यक्ति का दिशा सम्बन्धी अनुभव वास्तविक है या नहीं, यह जैसे सूर्योदय द्वारा निर्णय करना होगा, उसी प्रकार परमार्थ के विषय में किस साधक का अनुभव वास्तविक है या नहीं, वह भी शास्त्र द्वारा निश्चय करना होगा, परमार्थ विषय में शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है। "श्रुतेस्तु शब्द-मूलद्वार" सूत्र ने भी वेदान्त में यही बात कही है। ब्रह्म विषय में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। "शास्त्रयोनित्वाहं" सूत्र में भी वेदान्त ने यही कहा है। इस सूत्र के भाष्य में श्रीपाद शङ्कराचार्य ने भी यही कहा है। "अथवा यथोक्तम् ऋग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे—ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान-विषय में ऋग्वेदादि शास्त्र ही प्रमाण हैं।" इसलिये जिनकी अनुभव के साथ शास्त्र आदि वाक्यों की संगति है, उनके अनुभव में ही वास्तविक अनुभव है एवं परमार्थ विषय में उनके अनुभव द्वारा प्राप्त मत ही विज्ञमत कहा जाता है। यदि उनके अनुभव में शास्त्र आदि की संगति नहीं, तो उनका वह यथार्थ अनुभव नहीं होगा और वह होगी उनकी "भ्रान्ति"।

उक्त आलोचना से यह विदित हुआ कि भगवतत्वादि के सम्बन्ध में शास्त्रों का मत ही विज्ञमत है, अर्थात् विज्ञमत के साथ शास्त्र-मत का विरोध नहीं है।

साधन के प्रभाव से कोई कोई भक्त अणिमा और लघिमादि अनेक अलौकिक शक्ति प्राप्तकर सकते हैं। भक्ति भी रसामृत सिन्धु द्वारा यह विदित होता है कि श्रीकृष्ण-भक्त में श्रीकृष्ण के कोई कोई गुण सूक्ष्म परिमाण में प्रगट हो सकते हैं। "जीवेष्वेते बसन्तोऽपि विन्दु विन्दुतयाक्वचिद्" (२-१-१२) किन्तु इस प्रकार अलौकिक शक्ति या श्रीकृष्ण के किञ्चद् गुण यदि साधकमें प्रगट हों तो भी वे हैं जीवतत्व ही। उससे वह भगवान् नहीं होते हैं। अलौकिक शक्ति या अलौकिक गुण भगवत्त्व के एकमात्र प्रमाण या लक्षण विशेष नहीं हैं। ऐसे किसी गुण-शक्ति सम्पन्न साधक को यदि कोई

भगवान् कहता है तो उसका अनुभव विज्ञ-अनुभव या यथार्थ अनुभव नहीं कहा जायेगा।

श्रीश्रीगौरसुन्दर के तत्व सम्बन्ध में श्रीपाद स्वरूप दामोदरादि वैष्णवाचार्य गण जो कह गये हैं, वह प्रमाण स्वरूप मान्य होगा—यदि वह उल्लिखित रूप "विज्ञमत" है, विद्वदनुभवलब्ध तत्व है अर्थात् यदि वह सर्वतोभावेन शास्त्र सम्मत होता है।

श्रीमन्महाप्रभु की कृपा पर निर्भर होकर इस समय हम वैष्णव आचार्यों की शक्तियों की आलोचना करने की इच्छा करते हैं।

"राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्"

श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत के मंगलाचरण में श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने गौरतत्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक श्रीपाद स्वरूप दामोदर की कड़चा में से उद्धृत किया है।

राधा कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मातावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तं
राधाभाव द्युति सुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥

श्रीराधिका श्रीकृष्ण-प्रेम की विकार (गाढ़तम अवस्था) स्वरूपा हैं, इसलिये श्रीराधा श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। इसलिये (शक्ति एवं शक्तिमान् अभेदवशतः) वे (श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण) एकात्मा हैं, किन्तु एकात्मा होने पर भी अनादिकाल से वे गोलोकमें प्रथक् देह धारण किये हैं। इस समय (कलियुग में) वही दोनों एकत्व प्राप्त कर श्रीचैतन्य नाम से प्रगट हुये। उन्हीं राधाभाव-कान्ति युक्त कृष्ण स्वरूप श्रीचैतन्य को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस स्थल पर इस श्लोक की थोड़ी आलोचना करते हैं। श्लोक में आह्लादिनी को श्रीकृष्ण की शक्ति कहा है, इसलिये शक्ति की आलोचना प्रारम्भ करते हैं।

श्रीमद्भगवतगीता एवं गोपाल तापनी आदि श्रुतियों में श्रीकृष्ण को परम ब्रह्म कहा गया है। श्रुति से विदित होता है कि परम ब्रह्म की अनन्त शक्ति है, एवं वह शक्ति स्वाभाविकी है।

पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
श्वेताश्वतर ६–८

स्वाभाविकी शब्द में अविच्छेदत्व विदित होता है। ताप शक्ति अग्नि की स्वाभाविकी शक्ति है, अग्नि से ताप को अलग नहीं किया जा सकता है। सुगन्ध मृगमद की स्वाभाविकी शक्ति है, मृगमद से उसकी गंध दूर नहीं की जा सकती। इसी प्रकार परमब्रह्म श्रीकृष्ण से भी उनकी शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता है, इसीलिये उनकी शक्ति को स्वाभाविकी कहा गया है। अनेक समय तक लोहे को अग्नि में रखने से उसमें ताप शक्ति आ जाती है। यह लोहे की स्वाभाविकी शक्ति नहीं है। आग में देने से पहले लोहे में ताप नहीं था, अग्नि से हटा लेने पर कुछ क्षणों के उपरान्त लोहे में ताप-शक्ति नहीं रहती है। यह ताप-शक्ति आग से ही लोहे में आती है और बाद में समाप्त हो जाती है। यह लोहे की **'आगन्तुकी शक्ति'** है और यह **'सामयिक'** है। परमब्रह्म श्रीकृष्ण की शक्ति इस प्रकार आगन्तुकी भी नहीं है और सामयिक भी नहीं है। श्रीकृष्ण की शक्ति **नित्य** एवं **'स्वाभाविकी'** है।

जो हो श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों के बीच तीन शक्ति प्रधान हैं। चिद्शक्ति, मायाशक्ति, एवं जीवशक्ति। चिद्शक्ति माने चेतनामयी शक्ति—जड़ शक्ति की विरोधी, और माया शक्ति जड़रूपा शक्ति–चिद् की विरोधी। प्रकाश और अन्धकार में जिस प्रकार का सम्बन्ध है, उसी प्रकार चिद्शक्ति एवं जड़मायाशक्ति के बीच सम्बन्ध है। चिद्शक्ति प्रकाश की भांति है और माया शक्ति अन्धकार स्वरूप। जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार जिस स्थल पर चिद्शक्ति या सद्चिदानन्द भगवान् हैं, उस स्थान पर मायाशक्ति नहीं रह सकती। मायाशक्ति भगवान् से बाहर रहती है, इसलिये इसे **'बहिरंगा शक्ति'** भी कहते हैं।

चिद्शक्ति परमब्रह्म या स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप में वास करती है, इसलिये इसे **'स्वरूप शक्ति'** भी कहते हैं और जड़विरोधी होने के कारण इसे 'अन्तरंग शक्ति' भी कहते हैं। बहिरंगा मायाशक्ति से प्रथक् है। उपरोक्त तीन शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण चिद्शक्ति को 'पराशक्ति' भी कहते हैं।

जीवशक्तिभी चिद्रूपा है। मायाशक्ति और जीवशक्ति भगवान्में नहीं रहती है। तथापि श्रीभगवान् ही उनके मूल अस्तित्व है एवं उनके द्वारा ही वह नियन्त्रित होती है, अतः भगवान् से उनका अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

वे भी भगवान् की स्वाभाविकी शक्ति है। चिद्रूपा जीवशक्ति का अंश ही जीव है। अवस्था विशेष से जीव चिन्मय भगवद्धाम में जा सकता एवं रह सकता है। किन्तु मायाशक्ति कभी भी चिन्मय भगवद्धाम में नहीं जा सकती। प्राकृत ब्रह्माण्ड ही मायाशक्ति का कार्य स्थल है।

स्वरूप शक्ति की तीन वृत्ति–संधिनी शक्ति, सम्वित् शक्ति, तथा ह्लादिनी शक्ति हैं। परम ब्रह्म श्रीकृष्ण सत्-चिद् आनन्दमय हैं। उनके सत्-अंश की शक्ति को कहते हैं—संधिनी शक्ति या सत्त्वा-सम्बन्धिनी शक्ति, संधिनी के द्वारा भगवान् अपने तथा अन्य सबों के अस्तित्व की रक्षा करते हैं। भगवद्धाम आदि भी संधिनी शक्ति के ही विलास स्वरूप हैं। इसलिये इसे आधार शक्ति भी कहा जाता है। इस सम्वित् शक्ति के द्वारा भगवान् निज को पहचनते हैं और औरों को पहिचनवाते हैं। उनकी आनन्दांश की शक्ति को ह्लादिनी (या आनन्ददायनी) शक्ति कहते हैं। इस ह्लादिनी द्वारा भगवान् स्वयं भी आनन्द अनुभव करते हैं और भक्तगणों को भी आनन्ददान करते हैं। "स आनन्दायति।" श्रुति।

ह्लादिनी, संधिनी एवं सम्वित्—इन तीन शक्तियों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, कारण कि ये तीनों ही स्वरूप शक्ति की वृत्ति हैं। यदि किसी स्थलपर एक होगी तो शेष दो शक्तियाँ भी उस स्थल पर रहेंगी, किन्तु उनके परिमाण में कुछ तारतम्य हो सकता है। जब स्वरूप-शक्ति से संधिनी प्रधान रूप से प्रगट होती है, तब उसे सन्धिनी प्रधाना स्वरूप-शक्ति कहते हैं। स्वरूप-शक्ति को शुद्ध सत्त्व भी कहते हैं, इसलिये सन्धिनी-प्रधाना स्वरूप-शक्ति को सन्धिनी-प्रधान शुद्ध सत्त्व भी कहते हैं। सन्धिनी प्रधान शुद्धसत्त्व को साधारणतः केवल सन्धिनी शक्ति भी कहते हैं। इसी प्रकार सम्वित् प्रधाना स्वरूप शक्ति को (या सम्वित् प्रधान शुद्ध स्वरूप को) साधारणतः केवल सम्वित् शक्ति एवं ह्लादिनी प्रधान स्वरूप शक्ति को साधारणतः केवल ह्लादिनी शक्ति भी कहते हैं।

उपर्युक्त श्रीस्वरूपदामोदर के उद्धृत श्लोक में ह्लादिनी शब्द से ह्लादिनी प्रधाना स्वरूप शक्ति का ही तात्पर्य है।

कृष्ण प्रणय शब्द में कृष्ण विषयक प्रेम से तात्पर्य है—जिस प्रेम के विषय श्रीकृष्ण हैं, वही प्रेम। कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा का नाम है—प्रेम।

कृष्ण-सुख की **तात्पर्यमयी** सेवाकी इच्छा का नाम प्रेम है,जिसमें अपने सुख-प्राप्ति या अपने दुःखकी निवृत्ति की इच्छाकी गन्धभी न हो। यह स्वाभाविक मन की वृत्ति नहीं है, वस्तुतः प्रेम ह्लादिनी प्रधाना स्वरूप शक्ति (ह्लादिनी) की वृत्ति है। श्लोक के "विकृत्ति" शब्द का अर्थ विकार है। दूध का विकार जैसे क्षीर, उसीप्रकार का विकार—घनीभूत अवस्था। श्रीराधा, श्रीकृष्ण प्रेम की घनीभूत अवस्था है। इसे कविराज गोस्वामी ने किस सुन्दर भाव से समझाकर व्यक्त किया है—

ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेम सार भाव।
भावेर परमकाष्ठार नाम महाभाव॥
महाभाव–स्वरूपा श्रीराधाठाकुरानी।
सर्वगुण खनि कृष्णकान्ता–शिरोमणि॥

—श्री चै० च० १. ४. ५९, ६०

ह्लादिनी की घनीभूत अवस्थाका नाम प्रेम है। प्रेम घनीभूत या गाढ़ होने के पूर्व कई स्तरों से पार होता है प्रेम की प्रथम गाढ़ अवस्था का नाम स्नेह है, प्रेम भी घनीभूत होते होते धीरे धीरे मान, प्रणय,राग,अनुराग,भाव एवं महाभाव नाम को प्राप्त होता है। महाभाव भी फिर गाढ़त्व प्राप्त कर के मोदन या मादन नाम से विदित होता है। 'मादनाख्यमहाभाव' सर्वोत्तम स्तर है। इससे यह विदित हुआ कि प्रेम की विशिष्ट गाढ़ अवस्था का नाम भाव—'प्रेमसार भाव' है। फिर भाव के चरम गाढ़त्व प्राप्त स्तर का नाम महाभाव हुआ। भाव की पराकाष्ठा का नाम 'महाभाव' है। पराकाष्ठा शब्द में भाव का चरमतम विकास या गाढ़तम स्तर मादनाख्य महाभाव ही होता है। इसी कारण कृष्ण प्रेम के सर्वोत्तम स्तर का नाम मादन–मादनाख्य महाभाव है, इसमें ही प्रेम-विशेष की पराकाष्ठा है। प्रेम से आरम्भ होकर मादनाख्य महाभाव तक, प्रेम के यह समस्त स्तर स्वरूपतः ह्लादिनी के गाढ़त्व प्राप्त विभिन्न स्तर हैं, तब समस्त स्तर तथा मादनाख्य महाभाव की स्वरूपतः ह्लादिनी, श्रीराधा मादनाख्य महाभाव स्वरूपा हैं। इसलिये राधा ही स्वरूपतः ह्लादिनी शक्ति हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि श्रीराधा मूर्त्त विग्रह हैं। वह किस प्रकार ह्लादिनी शक्ति हो सकती है ? उत्तर यह है कि शक्ति की दो रूपों में स्थिति है। केवल शक्ति के रूप अमूर्त, और शक्ति की अधिष्ठात्री के रूप

में मूर्त्त। श्रीराधा शक्ति की मूर्त्त विग्रह हैं। महाभावरूप ह्लादिनी शक्ति की मूर्त्त विग्रह एवं महाभाव की अधिष्ठात्री, श्रीराधा ही मूर्त्त मादनाख्य महाभाव हैं, मादनाख्य महाभाव की सारी महिमा और उसका प्रभाव श्रीराधा ही में विराजमान है। इसीलिये कहा गया है "महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी"। अबतक श्लोक के "राधा कृष्णप्रणय-विकृतिः ह्लादिनी" अंश की व्याख्या की गई है।

अब श्लोक के "अस्मात् तौ एकात्मानौ" अंश की आलोचना करते हैं। अस्मात्—इसी कारण, श्रीराधा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति होने से तौ-वे दोनों—श्रीराधा और श्रीकृष्ण। एकात्मानौ—एक ही स्वरूप हैं। शक्ति और शक्तिमान में परस्पर कोई भेद नहीं हो सकता है। शक्ति और शक्तिमान दोनों ही बिना किसी भेद भाव के मिले हुये, एक ही वस्तु हैं तथा एक स्वरूप रूप में स्थित हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति एकत्र ही रहती है। इसी प्रकार श्रीराधा शक्ति एवं श्रीकृष्ण शक्तिमान दोनों एक ही स्वरूप-एकात्मा हैं—

राधा पूर्ण शक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान्।
दुई वस्तु भेद नाहि शास्त्र परमाण॥
मृगमद, तारगन्ध यैछे नाहि कभू भेद।
अग्नि ज्वाला ते यैछे नाहि कभु भेद॥
राधा कृष्ण तैछे सदा एकई स्वरूप॥

—श्री चै० च० १. ४. ८३

किन्तु "एकात्मानौ अपि"—श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण एक ही स्वरूप होते हुये भी 'भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ"—पुरा (अनादि काल से) भुवि (उनके नित्य लीला स्थल गोलोक में) तौ (वे श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण दो रूप में विराजमान) एक ही स्वरूप होते हुये भी अनादि काल से वे दो स्वरूपों में विराजमान क्यों हैं?—रसास्वादन के लिये।

श्रुति में परमब्रह्म श्रीकृष्ण को रस-स्वरूप कहागया है, "रसो वै सः" रस शब्द के दो अर्थ हैं। रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, और रसयति आस्वादयति इति रसः। जो आस्वादन कियाजाय वह रस, और जो आस्वादन करता है, वह रस है—रस आस्वादक, व रसिक है। परमब्रह्म श्रीकृष्ण को रस स्वरूप कहने से तात्पर्य है कि वे परम आस्वाद्य हैं, एवं परम आस्वादक

भी हैं। वे भक्त के प्रेम रस **निर्य्यास** का आस्वादन करते हैं, प्रेमरस निर्य्यास लीला में उत्साहित होता है। लीला के अर्थ है—क्रीड़ा। क्रीड़ा एकाकी नहीं होती है। क्रीड़ा के लिये संगी चाहिये। तभी श्रुति में कहा है—"स एकाकी न रमते॥ महोनिषत्॥" लीला-रस आस्वादन के लिये श्रीकृष्ण दो रूप में हुये—श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण। वह भी अनादि काल से। रसास्वादन के हेतु अनादिकाल से वे इन दो रूपों में विराजमान हैं।

राधाकृष्ण एक आत्मा, दुई देह धरि।
अन्योन्ये विलसे, रस आस्वादन करि॥
राधा कृष्ण ऐछे सदा एकई स्वरूप।
लीला रस आस्वादिते धरे दुई रूप॥

—श्री चै० च० १. ४. ४९,८५

लीला रस आस्वादन के हेतु रसिक शेखर श्रीकृष्ण ने केवल यह दो रूपही धारण किये हों—यह बात नहीं; इन दोनों ने फिर अनेक रूप धारण किये। श्रुति ने उनको "सर्वरसः"—अखिल-रसामृत-वारिधि कहा है। सर्वरसः होने से समस्त रस वैचित्री ही उनमें वर्तमान है। विभिन्न रसों के आस्वादनके हेतु रसिक शेखर नारायण, राम, नृसिंहादि अनन्त भगवत्स्वरूप रूपमें अनादिकाल से प्रकट होकर विराजमान हैं। समस्त भगवत्स्वरूप विभिन्न रसवैचित्री के मूर्त्त रूप हैं। जिसप्रकार विभिन्न रसवैचित्री उनमें स्थित है, उसीप्रकार उनमें विभिन्न भगवत् स्वरूप भी स्थित हैं। वे "एकई विग्रहेकरे नानाकाररूप" (चै० च० २. ९. १४१) श्रुति कहती हैं, "एकोऽपि सन् यो बहुधावभाति" (गोपाल तापनी) एवं श्रीराधा भी उन उन भगवत् स्वरूपों की कान्तारूप में आत्म प्रकाश करती है। व्रज की अनेकों कृष्ण-कान्ता गोपी सुन्दरीगण, द्वारका की महिषीगण, तथा वैकुण्ठ की लक्ष्मीगण, सब ही श्रीराधा के विभिन्न स्वरूप विशेष हैं।

लीला रसके आस्वादन के हेतु एक ही तत्व श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण—दो रूपों में अभिव्यक्त है, और वही दोनों श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण पुनः एकत्व प्राप्त कर श्रीचैतन्य के नाम से इस कलियुग में प्रगट हुये हैं। "चैतन्याख्यं प्रकट मधुना तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तम्"। श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण दोनों मिल-जुलकर एक स्वरूप श्रीचैतन्य हुये हैं। यह स्वरूप भी अनादि काल से विराजमान है। इस कलियुग में ब्रह्माण्ड में उनका प्राकट्य मात्र है।

सेई दुई एक एबे चैतन्य गोसाञि।
रस आस्वादिते दोंहे हैला एक ठाँई॥

—श्री चै० च० १. ४. ५०

पहले भी यह कहा गया है कि यह एक ही तत्व "लोला रस आस्वादिते धरे दुई रूप" (चै० च० १. ४. ८५)। पुनः इस स्थल पर कहा गया कि, "रस आस्वादिते दोंहे हैला एक रूप"। इसका क्या तात्पर्य है? तात्पर्य यह है कि एक जातीय रस के आस्वादन के लिये दोरूपों में प्रगट हुये, और दूसरे जातीय रस के आस्वादन हेतु दोनों फिर एक हुये हैं।

श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण, इन दो रूपों की जो लीला है, उसमें श्रीकृष्ण श्रीराधा के प्रेम के विषय मात्र हैं और श्रीराधा प्रेम की आश्रय हैं। इस लीला में श्रीकृष्ण प्रेम के विषय–रूप से लीला रस का आस्वादन करते हैं। श्रीराधा प्रेम के आश्रय-रूप से जिस रस का आस्वादन प्राप्त होता है, इस लीला में श्रीकृष्ण उस रस का आस्वादन नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण प्रेम-विषय की प्रधान मूर्ति हैं, और श्रीचैतन्य रूप में श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण ऐक्यवशतः श्रीचैतन्य, श्रीराधा-प्रेम के आश्रय हुये हैं। श्रीचैतन्य, श्रीराधा प्रेम के आश्रय-प्रधान स्वरूप हैं। इस स्वरूप में राधा प्रेम के आश्रय स्वरूप से वे रस का आस्वादन करते हैं। प्रेम के विषय रूप में आस्वादनीय रस एवं प्रेम के आश्रय रूप में आस्वादनीय रस– ये दोनों भिन्न प्रकार के रस हैं। रसिक शेखर श्रीकृष्ण प्रेम के विषयरूप से ब्रजलीला का आस्वादन करते हैं; और आश्रय रूप से श्रीचैतन्य रूप में नवद्वीप लीला का आस्वादन करते हैं। परवर्ती आलोचना में यह विषय और भी प्रस्फुटित होगा।

श्लोक में यह कहा गया है कि :—श्रीचैतन्य, श्रीराधा और श्रीकृष्ण के ऐक्यप्राप्त स्वरूप हैं। किन्तु फिर उनको "राधा भाव द्युति सुवलित कृष्ण स्वरूप" क्यों कहा गया? "राधा भाव द्युति सुवलित कृष्ण स्वरूप" कहने का तात्पर्य है कि, श्रीराधा के भाव एवं कान्ति को लेकर श्रीकृष्ण श्रीचैतन्य हुये हैं–दोनों के ऐक्य प्राप्ति की बात मानो उनमें नहीं रहती, इस का क्या तात्पर्य है?

"राधाभाव द्युति सुवलित" शब्दों से ही श्रीराधा के साथ एकत्व प्राप्त होना सूचित होता है, क्यों कि एकत्व प्राप्त न होनेपर श्रीराधा के भाव (प्रेम) एवं द्युति (कान्ति) का प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। उसका

कारण यह है—वास्तव में भाव ही स्वरूप का वैशिष्ट्य है। एक मात्र स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही भाव-भेद से विभिन्न भगवत् स्वरूपों ने विराजमान हैं। केवल श्रीराधा ही विभिन्न भाव-भेद से विभिन्न कान्ता-शक्ति के रूप में विराजमान हैं। उनको अलग करके स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती और स्वरूप को अलग करने से भाव को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। स्वरूप को ग्रहण करने से ही स्वरूप के भाव एवं कान्ति को ग्रहण करना सम्भव हो सकता है। स्वरूप को अलग करके यदि केवल भाव ग्रहण करना सम्भव होता तो ब्रज लीला में ही श्रीराधा के प्रथक् सत्व की रक्षा करते हुये उनका भाव ग्रहण कर श्रीकृष्ण आश्रय-जातीय रस का आस्वादन कर सकते। उससे एक ब्रजलीलामें ही विषय-जातीय एवं आश्रय-जातीय–दोनों प्रकार के रसोंका आस्वादन करना सम्भव हो जाता। यह सम्भव नहीं होसका। इसी लिये श्रीराधा के भाव(प्रेम)ग्रहण करने के लिये श्रीकृष्ण को श्रीराधा के साथ मिल कर एक होना पड़ा। गौराङ्गी श्रीराधा के साथ मिलने से श्रीकृष्ण श्रीराधा की गौर-कान्ति द्वारा भी सुवलित हुए हैं। श्रीराधा ने अपने गौर अङ्ग के द्वारा श्रीकृष्ण को पूर्णरूप से आच्छादित कर रखा है। हृदय में श्रीराधा का भाव लेकर एवं अङ्गों में गौराङ्गी श्रीराधा द्वारा आच्छादित या आलिंगित होने से श्रीकृष्ण,श्रीचैतन्य हुये हैं।

"राधाभावद्युति सुवलित" शब्दों से यह भी विदित होता है कि "श्रीचैतन्य का वर्ण गौर है, वे अन्तः कृष्ण, बहिर्गौर हैं।

"राधाभावद्युति सुवलित"शब्दोंका एक और भी अर्थ है। वह यह कि श्रीराधा, श्रीकृष्ण की शक्ति हैं, और शक्ति का स्वरूपानुबन्धि कर्तव्य है—शक्तिमान् की सेवा। श्रीराधा का भी कर्तव्य है शक्तिमान श्रीकृष्णकी सेवा। श्रीकृष्ण की वाच्छापूर्त्ति रूप सेवा ही वह करती हैं।

कृष्ण वांछापूर्त्तिरूप करे आराधने।
अतएव राधिकानाम पुराणे बाखाने॥

—चै० च० १. ४. ७५

इसलिये श्रीराधा भक्तभावमयी हैं। और उनका भाव भी भक्त-भाव है। इस प्रकार की श्रीराधा के साथ मिलकर उनके भाव को अङ्गीकार कर जो श्रीकृष्ण श्रीचैतन्य हुये हैं, वह श्रीचैतन्य भी भक्तभावमय हैं, स्वयं भगवान् होकर भी वे भक्तभावमय हैं—राधाभावद्युति सुवलित,—शब्दों का एक यह अर्थ है।

श्लोक में 'श्रीचैतन्य' शब्द की भी एक व्यञ्जना विदित होती है। 'श्रीचैतन्य'शब्द'श्रीकृष्णचैतन्य'शब्दका संक्षिप्त आकार है। 'श्रीकृष्णचैतन्य' श्रीमहाप्रभु के संन्यास आश्रम का नाम है। इसलिये यह विदित होता है कि राधाकृष्ण–मिलित स्वरूप 'श्रीचैतन्य' संन्यास ग्रहण करेंगे। 'श्रीचैतन्य' —शब्द से यही ध्वनि प्रगट होती है।

इस समय यह प्रश्न उठ सकता है कि, श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण दो प्रथक् स्वरूप हैं, वे मिलकर किस प्रकार एकत्व को प्राप्त हुये।

मूल श्लोक में ही इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। दो व्यक्ति भिन्न होने पर उनके शरीर का एक होना सम्भव नहीं है। एक व्यक्ति का भाव दूसरे के द्वारा ग्रहण करना भी सम्भव नहीं है, किन्तु श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण आपस में भिन्न नहीं हैं, श्लोक में कहा गया है कि वे एकात्मा—एक स्वरूप हैं, एक स्वरूप होने से उनका ऐक्य सम्भव हुआ है।

"राधा कृष्णप्रणयविकृतिः" श्लोक की उपर्युक्त आलोचना से जो विदित हुआ—उसका यह मर्म है कि, १—श्रीराधा श्रीकृष्ण की शक्ति हैं, वे प्रेम घन-विग्रहा है, २—श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण एकात्मा हैं,३—एकात्मा होते हुये भी एक विशेष प्रकार के रस के आस्वादन के हेतु वे अनादि काल से दो रूपों में गोलोक में विराजमान हैं। ४—एक विशेष प्रकार के रसास्वादन के हेतु वे दोनों एकत्व प्राप्त कर श्रीचैतन्य रूप में प्रगट हुवे। ५—श्रीचैतन्य राधाभाव–कान्तियुक्त श्रीकृष्ण हैं। ६—श्रीचैतन्य का रूप श्रीराधा के रूप की भाँति गौर है। ७—श्रीचैतन्य ने संन्यास ग्रहण किया है।

इस प्रकार यह विदित हुआ कि "राधा कृष्णप्रणयविकृतिः" इत्यादि श्लोकों के सूत्र रूप में गौर-तत्व की बात कही गयी है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह श्लोक श्रीकविराज गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ में श्रीपाद स्वरूपदामोदर की कड़चामें से उद्धृत किया है। इसलिये इस श्लोक में गौरतत्व के सम्बन्ध में जो भी कहा गया है, वह श्रीपाद स्वरूपदामोदर की ही उक्ति है।

अब यह देखना होगा कि श्रीपाद स्वरूपदामोदर ने जो गौर-तत्व के सम्बन्ध में कहा है वह उनका निजी मत है या उसकी कोई शास्त्रीय भित्ती भी है। यदि यह उनका ही अभिमत है, तो क्या शास्त्रज्ञ सुधीगण उसे स्वीकार करेंगे या नहीं? किसी महापुरुष को भगवत्ता में

प्रतिष्ठित करने की चेष्टा हो सकती है, उस उद्देश्य से व्यापकरूप में प्रचार कार्य भी किया जासकता है,किन्तु उसकी भगवत्तता के सम्बन्धमें शास्त्रों का प्रमाण न होने पर ऐसी चेष्टा और प्रचारका कोई मूल्य नहीं रहता। "राधा कृष्ण-प्रणय विकृतिः"इत्यादि श्लोक में श्रीस्वरूपदामोदर ने जो बात कही है, उसे प्रमाण स्वरूप स्वीकार करने पर यह देखना होगा कि शास्त्रों में निम्नलिखित विषय है या नहीं :—

(क) श्रीराधा श्रीकृष्ण की शक्ति हैं, श्रीराधा प्रेमघन मूर्त्ति हैं।

(ख) श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण एकात्मा हैं।

(ग) एकात्मा होने पर भी श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण अनादिकाल से दो रूपों में स्थित हैं और लीला कर रहे हैं।

(घ) गौरवर्ण स्वयं भगवान् के अस्तित्व का प्रमाण है।

(ण) वह गौरवर्ण, स्वयं भगवान् श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण के एकत्व प्राप्ति का स्वरूप है।

(च) गौरवर्ण स्वयं भगवान् की बात शास्त्रों में रहने पर भी, वे ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं या नहीं और होते हैं तो किस युग में ?

(छ) स्वयं भगवान् के संन्यास की बात शस्त्रों में है या नहीं।

(ज) गौरवर्ण भगवान् के भक्ति-भाव की बात शास्त्रों में है या नहीं।

(झ) गौरवर्ण स्वयं भगवान् की बात एवं ब्रह्माण्ड में उनके अवतरित होने की बात शास्त्रों में रहने पर शचीनन्दन श्रीचैतन्यदेव ही वही गौरवर्ण स्वयं भगवान् हैं—इसका क्या प्रमाण है ?

इस समय इन समस्त विषयों की आलोचना की जाती है। इस आलोचनासे यह विदित होगा कि श्रीपाद स्वरूपदामोदर ने जो कहा है, वह शास्त्र–उक्तियों का ही सार है, उनका निजी मत नहीं।

श्रीराधिका कृष्णशक्तित्व एवं प्रेमघन विग्रहत्व

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्म भूतो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

—ब्रह्म संहिता ५. ३७

श्रीब्रह्मा जी कहते हैं—अखिलात्मभूत (सबके परम प्रिय) जो आनन्दचिन्मय-रसद्वारा-प्रतिभाविता, स्वकान्तारूप से प्रसिद्ध अपनी स्वरूप शक्ति ह्लादिनी स्वरूपा ब्रजदेवीगणों के सहित गोलोक में वास करते हैं—उन आदि पुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ।

इस श्लोक की टीका में श्रीपादजीव गोस्वामी ने विशेष विशेष शब्दों के जो अर्थ किये हैं, वे ये हैं। "आनन्द चिन्मयरसः" परम प्रेममय उज्ज्वल नामा—परम पराकाष्ठा प्राप्त उज्ज्वल रस (अर्थात् कान्तारस), कान्ताप्रेम महाभाव। श्रीचैतन्य चरितामृत में भी कहा है—"आनन्द-चिन्मय-रस प्रेमेर आख्यान" अर्थात् प्रेम का ही एक पर्याय शब्द है "आनन्द चिन्मयरस"। निजरूपतया-स्वदारत्वेनेव-स्वयी कान्तारूपे। श्रुति में कहा है"अनेक जन्म-सिद्धानां गोपीनां पतिरेव सः"। श्रीकृष्ण गोपियों के नित्यपति हैं। कलाभिः ह्लादिनी-शक्तिवृत्तिरूपाभिः, वही कृष्ण-कान्ता गोपसुन्दरीगण, ह्लादिनी शक्ति की वृत्तिरूपा हैं।

उपर्युक्त श्लोक में श्रीब्रह्मा ने कहा है—श्रीगोविन्द स्वीय निजकान्ता गोपसुन्दरियों के सहित गोलोक में विराजमान हैं, गोपसुन्दरीगण-श्रीराधा ह्लादिनी शक्ति स्वरूपा हैं,एवं वे आनन्द चिन्मयरस प्रतिभाविता,"प्रेम विभाविता" हैं। विभावित शब्द के दो अर्थ हैं। गठित एवं विशेष रूपसे भावित (पान या घृत कमल के रस से बटिका जैसे भावित हो जाती है, उसी प्रकार) इसलिये गोपसुन्दरीगण प्रेमद्वारा गठिता हैं, प्रेमघन विग्रहा हैं एवं उनका शरीर भी विशेष रूप से प्रेम रस द्वारा भावित है। उनके शरीर का प्रत्येक अणु परमाणु प्रेम रस परिनिषिक्त है। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है कि—

"प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम विभावित"

—१. ८. १२४

इस प्रकार ब्रह्म संहिता के प्रमाण से विदित हुआ कि, श्रीराधिकादि गोपसुन्दरीगण श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं, नित्यकान्ता, एवं प्रेम-घन विग्रहा हैं।

उज्ज्वलनीलमणि में भी कहा है—श्रीराधा महाभाव-स्वरूपा हैं।

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभाव स्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥

—श्रीराधा प्रकरण-२

श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है—

कृष्ण प्रेम-भावित यार चित्तेन्द्रिय काय।
कृष्ण-निजशक्ति राधा—क्रीड़ार सहाय॥

—१. ४. ६१

श्रीराधिकादि श्रीकृष्ण की शक्ति हैं, यह श्रुतियों में भी कहा है। "राधाद्याः पूर्णाः शक्तयः॥" 'स्मरति च' यह २. ३. ४५ वेदान्त सूत्र के गोविन्द भाष्य में एवं सिद्धांतरत्न ग्रन्थ के २-२२ अनुच्छेद में धृत अथर्व वेदान्तर्गत, पुरुष-बोधनी श्रुतिका वचन है।

श्रीराधा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं, यह पद्मपुराण के पाताल खण्ड से भी विदित होता है। श्रीशिव ने नारदजी से कहा—

—'राधिका परदेवता'

सर्वलक्ष्मी-स्वरूपा सा कृष्णाह्लाद-स्वरूपिणी।
ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः॥

वृहद गौतमीय तन्त्र में भी कहा है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

श्री श्रीराधाकृष्ण की एकात्मता—

पद्मपुराण के पाताल खण्ड में श्रीशिवजी ने नारदजी से कहा :—

—'राधिका परदेवता'

* * * *

स्वतु साक्षात्महालक्ष्मीः कृष्णोनारायणः प्रभुः।
नैतयोर्विश्वते भेदं स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम॥

—५०. ५३. ५५

श्रीराधा परदेवता हैं। * * *। श्रीराधा साक्षात् महालक्ष्मी एवं श्रीकृष्ण साक्षात् प्रभु नारायण हैं। इन दोनों में जरा भी भेद नहीं है। (इनकी एकात्मता है)।

उक्त पुराणमें और भी एक स्थानपर श्रीराधाने नारदजी से कहा है—

अहञ्च ललिता देवी राधिका या च गीयते ।
अहञ्च वासुदेवाख्यो नित्य-काम कलात्मकः ॥
सत्यं योषित् स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी ।
अहञ्च ललितदेवी पुसूया कृष्ण विग्रहा ॥
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद ॥

—४४. ४४. ४६

जिसको राधिका कहते हैं, वह मैं ही ललिता देवी हूँ। नित्य काम कलात्मक वासुदेव भी मैं ही हूँ। मैं वास्तव में रमणी स्वरूप हूँ, मैं ही सनातन-नारी हूँ, और मैं ही पुरुष देह में श्रीकृष्ण हूँ। हे नारद मुझमें और श्रीकृष्ण में कुछ भी भेद नहीं है।

पद्मपुराण के पाताल खण्ड में पार्वती से श्रीशिव जी ने श्रीराधिका को कृष्णात्मा—श्रीकृष्ण की आत्मस्वरूपिणी—कहा है।

श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण एकात्मा हैं, एक स्वरूप हैं। उल्लिखित शास्त्र-प्रमाण से यही विदित होता है। परवर्ती अनुच्छेद में नारद-पचंरात्र वचन से भी यही विदित होता है।

अनादिकाल से श्रीश्रीराधाकृष्ण दो रूपों में अवस्थित हैं :—

एकात्मा होने पर भी, श्रीराधाकृष्ण अनादिकाल से दो रूपों में विराजमान हैं—यह नारदपञ्चरात्र से विदित होता है।

द्विभुजः सोऽपि गोलोके वभ्राम रासमण्डले ।
गोपवेशश्च तरुणो जलदश्याम सुन्दरः ॥

—२. ३. २१

* * * *

एक ईषः प्रथमतो द्विधारूपो वभूव सः ।
एका स्त्री विष्णुमाया पुमानेकः स्वयं विभुः ॥
स च स्वेच्छामयः श्यामः सगुणो निर्गुणः स्वयं ।
तां दृष्ट्वा सुन्दरीं लीलां रतिं कर्त्तुं समुद्यतः ॥

—२. ३. २४-२५

वह तरुण गोपवेश में नवमेघ के समान श्यामसुन्दर द्विभुज परमात्मा गोलोक के रासमण्डल में भ्रमण करते हैं। एकमात्र प्रथम ईश्वर

(अनादिकाल से) द्विधा में विभक्त हुये—उनका एक भाग स्त्री रूप हुआ, जिसको विष्णुमाया (विष्णु—श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति) कहते हैं। दूसरे भाग में वह स्वयं पुरुषरूप में रहे। वह स्वेच्छामय, श्यामकान्ति, सगुण (अप्राकृत गुण विशिष्ट) एवं निर्गुण (प्राकृतगुण हीन) हैं। वे उसी सुन्दरी चञ्चला ललना को देखकर उसके साथ लीला करने की उद्यत हुये।

और भी उल्लेख है कि—श्रीकृष्ण जिस प्रकार ब्रह्म स्वरूप और प्रकृति से अतीत हैं, श्रीराधा भी उसी प्रकार ब्रह्म स्वरूपा तथा प्रकृति से अतीत हैं।

यथा ब्रह्म स्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः ।
तथा ब्रह्म स्वरूपाय निर्लिप्ता प्रकृतेः परा ॥

ना० प० रा० २. ३. ५१

श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण जो अनादिकाल से दो रूपों में विराजमान हैं उस सम्बन्ध में और अधिक शास्त्र प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। उनकी लीलायें अनेक शास्त्रों में वर्णित तथा प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के परिशिष्ट में उसका उल्लेख मिलता है। "राधया माधवो देवो माधवे नैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेषु" इत्यादि।

गौरवर्ण स्वयं भगवान्

श्रीकृष्ण के नामकरण के समय गर्गाचार्य ने नन्दमहाराज से कहा:—

आसन् वर्णास्त्रयोह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥

श्री० भा० १०. ८. १३

—हे व्रजराज ! तुम्हारा यह पुत्र भिन्न२ युगोंमें भिन्न२ शरीर(विग्रह) प्रकट करता है। इसके शुक्ल, रक्त एवं पीत यह तीन वर्ण हो गये हैं। (अर्थात् यह तीन वर्ण, तीन विग्रहों में इसके पूर्व ही अवतीर्ण हुये थे) इस द्वापर में कृष्णता को प्राप्त हुआ है। (इसलिये इसका एक नाम कृष्ण है।)

इस श्लोक में कहा गया है कि—सतु, त्रेता, द्वापर एवं कलि इन चार युगों में श्रीकृष्ण भिन्न २ देह में प्रकट हुये। इस द्वापर में इन्होंने कृष्णता

प्राप्त की है, किन्तु इनके तीन वर्ण शुक्ल, रक्त एवं पीत यह द्वापर के पूर्व ही हो गये (आसन्–,अतीत-काल सूचक क्रिया पद)।

इस श्लोकमें गर्गाचार्यने श्रीकृष्णके स्वयं भगवत्-तत्व का ही इङ्गित किया है। इस इङ्गित में दो वाक्य कहे हैं—**"गृह्णतोऽनुयुगम् तनुः"** तथा **"कृष्णतां गतः"** स्वयं भगवान् मूल अवतारी हैं और वे विभिन्न अवतार रूप में विभिन्न युग में विभिन्न आकार में अवतीर्ण होते हैं। इसलिये "गृह्णतोऽनुयुगम् तनुः" (वे युग के अनुरूप देह धारण करते हैं) इस वाक्य में स्वयं भगवान् को हरि इङ्गित किया गया है। **"कृष्णतां गतः"** (कृष्णता (प्राप्त किये हुये) इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि श्लोक के शुक्ल, रक्त,पीत इन तीन शब्दों के उपलक्षण में समस्त अवतारों को ही बताया है (तत्रयो यः शुक्ल प्रादुर्भावः, यो यो रक्तः, यो यः पीतश्च उपलक्षकाश्चेते वर्णान्तरवंताम् वैष्णवतोषणी टीका)। विभिन्न युगों में शुक्ल–रक्तादि जो समस्त युगावतार, मन्वन्तरावतार, लीलावतार, पुरुषावतार आदि जितने भी अवतार प्रकट हुए हैं,शुक्ल-रक्तादि शब्दोंके उपलक्षण में ही समस्त अवतार इङ्गित होते हैं।

कृष् धातु से कृष्ण शब्द निष्पन्न होता है। कृष् धातु का अर्थ है—आकर्षण,जो आकर्षण करते हैं वह कृष्ण,कृष्णता शब्द का अर्थ आकर्षकता है। इस द्वापर में यह कृष्ण वर्ण हुए, यह न कह कर गर्गाचार्य ने यह क्यों कहा कि—इन्हें कृष्णता प्राप्त हुई! इस बात को कहने का तात्पर्य यह है कि इस बार इन्होंने अपनी सर्वाकर्षकता प्रकट की है। श्रीकृष्ण अवश्य—

"पुरुषयोषित् किम्वा स्थावर जंगम।
सर्वचित्त आकर्षक साक्षात् मन्मथमदन॥'

श्री० चै० च० २. ८. ११०

किन्तु नामकरण के समय उनकी इसप्रकार की आकर्षितता प्रकट नहीं हुयी। अतः गर्गाचार्य बोले—**'कृष्णतां गतः'**। कृष्णता—आकर्षकता प्राप्त हुयी। इससे यह जाना गया कि गर्गाचार्य ने इसी प्रकार की आकर्षकता की बात कही है। क्या यह वही आकर्षकता है? वे किसको आकर्षण करके लाये हैं। इसका उत्तर पाने के लिये इस श्लोकके परवर्ती श्लोक की आलोचना करनी होगी।

"आसन् वर्णाः" श्लोक में गर्गाचार्य ने भङ्गी पूर्वक कहा कि—व्रज-

राज की इस सन्तान का एक नाम कृष्ण है। और इसके बाद के श्लोक में कहा कि वासुदेव भी इनका एक नाम है। उसी दिन प्रथम नामकरण हुआ। नामकरण के समय गर्गाचार्य ने केवल दो ही नाम प्रकाश किये—कृष्ण एवं वासुदेव, किन्तु अपने अव्यवहित परवर्त्ती श्लोक में गर्गाचार्य बोले—

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्यते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥

श्री० भा० १०. ८. १५

—हे नन्द महाराज! आपके इस पुत्र के गुण कर्मानुरूप अनेकों नाम एवं रूप हैं। वे सब न मैं ही जानता हूँ, न और लोग ही जानते हैं।

गर्गाचार्य ने नन्दनन्दन के केवल दो ही नाम प्रकाश किये—कृष्ण एवं वासुदेव, इसके पूर्व उनका और कोई दूसरा नाम नहीं रखा। अतः गर्गाचार्य बोले—इस नन्दनन्दन के गुण और कर्म के अनुसार बहुत नाम और बहुत रूप हैं। (सन्ति–वर्त्तमानकाल सूचक क्रिया है) इसका तात्पर्य क्या? एवं यह सब बहुनाम एवं बहुरूप ही क्या?

कोई प्राणी जब मनुष्य के रूप में जन्म लेता है, तो उसके पहले वह देवता-गन्धर्व-मनुष्य-पशु-पक्षि-कीट-पतंग-वृक्ष-लतादि अनेक योनियों में भ्रमण करके आता है। उक्त योनियों में उसका भिन्न २ नाम तथा भिन्न २ रूप था। वह सब नाम तथा रूप उसके गुण तथा कर्म के अनुरूप थे। किन्तु जब अन्तिम बार उसने मनुष्य के रूप में जन्म ग्रहण किया, तब उसके नामकरण के समय उसके उन सब नाम रूपों की बात स्मरण कर नहीं कही जाती है, कि उसके "बहुत से नाम और बहुत रूप हैं"। किन्तु यह कहा जाता हैं कि "उसके बहुत से नाम और बहुत रूप थे"। इस श्लोक में "बहूनि नामानि इत्यादि" श्लोक में "बहुनाम एवं रूप हैं" इस वाक्य से विदित होता है कि जिसका नामकरण हो रहा है—वह नन्द-नन्दन जीवतत्व नहीं हैं। तब वे कौन हैं? वे भगवान् हैं। "गृह्णतोऽनुयुगं-तनुः" में भी यही कहा गया है। "सन्ति"–इस वर्त्तमानकाल वाचक क्रिया-पद में नामरूप आदि का नित्यत्व ही सूचित होता है। एकमात्र भगवत् स्वरूप समूह के नाम और रूप नित्य हैं। और किसी का नाम व रूप नित्य नहीं होता है। इस श्लोक में अनेक नित्य नाम तथा अनेक नित्य रूपों की

बात कही गयी है वह सब नित्य भगवत् स्वरूप समूह के नाम और रूपों की बात कही गयी है। इन समस्त भगवत् स्वरूप समूह के नाम और रूपों को ही श्रीकृष्ण के नित्यनाम एवं रूप कहा गया है। इससे यह विदित होता है कि समस्त भगवत् स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रकाशरूप हैं। श्रीकृष्ण अनादि-काल से इन समस्त भगवत्-स्वरूपों से आत्म-प्रगट कर विराजमान हैं। इसके द्वारा यह भी विदित होता है कि श्रीकृष्ण, स्वयं भगवान्, परमब्रह्म और अनादिकाल से नारायण, राम, नृसिंहादि विभिन्न भगवत्-स्वरूप-रूपों में विराजित हैं। "एकोऽपि सन् यो बहुधावभाति, गोपाल तापनी श्रुति"। पहले उद्धृत, "आसन वर्णाः" श्लोक के अन्तर्गत "शुक्लो रक्तस्तथापीतः" इत्यादि के उपलक्षण में इन समस्त भगवत्-स्वरूपों की बात ही कही गयी है। नन्दनन्दन ने इन समस्त भगवत्-स्वरूपों को आकर्षित कर अपने आपमें अन्तर्भुक्त करके आत्म प्रकट किया। उससे ही उनकी "कृष्णता–आकर्षकता है। सारे भगवत्-स्वरूपों को अपने आप में आकर्षित करके ही वे कृष्णता को प्राप्त हुये हैं। यही "कृष्णतां गतः" वाक्य का अर्थ है। समस्त भगवत्-स्वरूपों के वे मूल हैं। उनके अलावा दूसरा कोई समस्त भगवत्-स्वरूपों को अपने में आकर्षित नहीं कर सकता है। समस्त भगवत्-स्वरूपों के मूल स्वयं भगवान् हैं—

यार भगवत्ता हैते अन्येर भगवत्ता।
स्वयं भगवान् शब्देर तांहातेई सत्ता॥

—श्री चै० च० १. २. ८४

इसलिये श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—यह "कृष्णतां गतः" वाक्य से विदित होता है। वस्तुतः जब स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं, तब अन्य समस्त भगवत्-स्वरूप भी उन्हीं के विग्रह में अवस्थित रहते हैं।

पूर्ण भगवान् अवतरे येई काले।
आर सब अवतार ताते आसि मिले॥
नारायण चतुर्व्यूह मत्स्याद्यवतार।
युग-मन्वन्तरावतार यत आछे आर॥
सभे आसि कृष्ण अङ्गे हय अवतीर्न।
ऐछे अवतरे कृष्ण भगवान् पूर्ण॥

—श्री चै० च० १. ४. ९, ११

बृहद्भागवतामृत में भी कहा है—"एकः स कृष्णो निखिलावतार

समष्टिरूपः। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण निखिल अवतारे समष्टिरूप।

—बृ० भा० २. ४. १८६

उल्लिखित आलोचना से यह विदित हुआ कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं।

अब श्लोक के "शुक्लोरक्तस्तथा पीतः" अंश की आलोचना की जाती है।

श्लोक में कहा गया है कि—नन्दनन्दन भिन्न २ युग में भिन्न २ वर्ण धारण करते हैं। युग चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग। द्वापर में उन्होंने कृष्ण वर्ण धारण किया है। बाकी रहे तीन युग—सत्य, त्रेता और कलि। वर्ण भी धारण किये हैं—तीन ही, शुक्ल, रक्त और पीत। शुक्ल सत्ययुग के युगावतार हैं, और रक्त त्रेता युग के युगावतार रूप में उन्होंने सत्ययुग में शुक्लवर्ण एवं त्रेतायुग में रक्त वर्ण धारण किया—यह सहज ही विदित होता है। बाकी रहा पीतवर्ण एवं कलियुग। इसलिये कलियुगमें ही वह पीतवर्ण हुये—यही जाना जाता है। किन्तु जिस चतुर्युग के द्वापर में नन्दनन्दन नाम हुआ, उस चतुर्युग का कलियुग तो अभी आया ही न था। परन्तु कहा गया है कि—शुक्ल और रक्त की भांति पीत भी व्यतीत हो गया (आसन् वर्णास्त्रयः)। इससे यह विदित होता है कि नन्दनन्दन पूर्ववर्ती किसी चतुर्युग के कलियुग में पीतवर्ण हुये थे, यह गर्गाचार्य ने कहा था। अब यह देखना होगा कि पहले किसी कलियुग में क्या वे युगावतार रूप में या किसी और स्वरूप में पीतवर्ण हुये थे। यह निर्णय करना होगा–श्लोक के 'तथा' शब्द की सहायता से–"तथा पीतः"।

अनेक स्थान पर पाद-पूरणार्थ च, वै, तु, हि इत्यादि शब्द श्लोकों में प्रयोग होते हैं। पाद-पूरणार्थ प्रयोग होने से इनका कोई अर्थ नहीं होता है। किन्तु पाद-पूरणार्थ 'तथा' शब्द प्रयोग नहीं होता है। सुतरां इस श्लोक का 'तथा' शब्द निरर्थक नहीं है, श्लोक के अर्थ-निर्णय में यह 'तथा' शब्द उपेक्षणीय नहीं है, 'तथा' शब्द का अर्थ स्वीकार न करने पर श्लोक का अभिप्रेत तात्पर्य नहीं समझा जायेगा। और फिर 'तथा' और 'यथा' दोनों शब्द एक साथ रहते हैं। जहाँ 'तथा' रहता है, वहाँ 'यथा' भी रहता है, अथवा जहाँ 'यथा' होगा, वहाँ 'तथा' भी है, यह समझना होगा। किसी स्थान पर छन्द मिलाने के हेतु 'यथा' और 'तथा' इन दोनों शब्दों में से एक अप्रयुक्त रहता है। इस श्लोक में भी छन्द के अनुरोध से 'यथा' शब्द

नहीं लिखा गया है, किन्तु 'यथा' अनुक्त होने के कारण मानना होगा, एवं श्लोक के अर्थ निर्णय करने के समय अनुक्त 'यथा' शब्द को लाना होगा। अन्यथा श्लोक का स्वाभाविक अर्थ नहीं होगा।

अब यह देखना होगा कि श्लोक के किस शब्द के साथ 'यथा' शब्द का अन्वय होगा। 'तथा' शब्द के साथ जो 'पीतः' शब्द का अन्वय है, यह स्पष्ट रूप से विदित होता है—"तथा पीतः"।

श्लोक के प्रथमार्द्ध में 'यथा' शब्द का स्थान नहीं हो सकता, पूर्व के प्रथमार्द्ध में जो अर्थालोचना की गयी है, उससे वह स्पष्ट रूप से समझा जाता है। श्लोक के शेषार्द्ध में किसी स्थान पर 'यथा' शब्द में संगति बैठानी होगी। शेषार्द्ध के दो स्थानों पर 'यथा' शब्द लगाया जा सकता है। "यथा शुक्लोरक्तः तथा पीतः" अथवा "यथा कृष्णतां गतः, तथा पीतः (पीततां गतः)"। अब यह देखना होगा कि इन दो प्रकार के अन्वयों में कौन सा ठीक है। पहले 'यथा शुक्लोरक्तः, तथा पीतः' इस अन्वय का ही विचार कियाजाता है। यथा-तथा द्वारा जिन दो शब्दों का अन्वय होता है,उन दोनों शब्दों का कुछ समान धर्म होता है। समान धर्म की सूचना के हेतु ही यथा-तथा का प्रयोग होता है। उल्लिखित अन्वय स्वीकार करने पर विचारना होगाकि—शुक्ल-रक्त का जो धर्म या स्वरूप है,पीत का भी वही धर्म व स्वरूप है ? शुक्ल, रक्त क्रमशः सत्य तथा त्रेता के युगावतार हैं। इसलिये यह अन्वय स्वीकार करने से यह समझना होगा कि—पीत भी युगावतार है—कलि का युगावतार। किन्तु शास्त्र कहते हैं कि कलि के युगावतार हैं—कृष्ण (यह नन्दनन्दन स्वयं भगवान् कृष्ण नहीं, उनके अंश मात्र), उनका नाम भी कृष्ण है और वर्ण भी कृष्ण है। "कथ्यते वर्ण-नामाभ्यां शुक्लः सत्ययुगे हरिः" रक्तः श्यामः क्रमात् कृष्ण स्त्रेतायां द्वापरे कलौ। युगावतार का जैसा नाम वैसा ही वर्ण भी। सत्य के युगावतार का नाम एवं वर्ण रक्त, द्वापर के युगावतार का नाम एवं वर्ण—श्याम और कलि के युगावतार का नाम एवं वर्ण—कृष्ण (लघु भागवतामृत युगावतार प्रकरण ॥ २५ ॥) श्रीहरिवंश के मतानुसार भी कलि के युगावतार—कृष्ण है। "कृष्णः कलियुगे विभुः"। "लघुभागवतामृत टीकाधृत वचन" और फिर विष्णु धर्मोत्तर के मतानुसार—"द्वापरे शुकपत्राभः कलौ श्यामः प्रकीर्तितः। द्वापर के युगावतार शुकपत्राभः एवं कलि के युगावतार श्याम। श्री भा० ११. ५. २५ श्लोक के क्रम सन्दर्भ टीकाधृत वचन"। इस स्थान पर द्वापर के युगावतार

के सम्बन्ध में दो मत मिले। लघुभागवतामृत कहती है—श्याम, विष्णु-धर्मोत्तर—शुकपत्राभः—शुक (तोता) पक्षी के पंख के रंग के समान। यका-यक देखने से इस स्थान पर विरोध प्रतीत होता है किन्तु वास्तविक विरोध नहीं है। शब्द कल्पद्रुम अभिधान में मेदिनी कोष का प्रमाण उद्धृत करने से श्याम शब्द का एक अर्थ दिया गया है—'हरिद्वर्ण'। हरिद्वर्ण का अर्थ सब्जवर्ण (शब्द कल्पद्रुम), शुक पत्राभ शब्द से भी सब्ज वर्ण अर्थ मालूम होता है। (श्री मद्भागवत् के ११. ५. २५ श्लोक की टीका में श्रीजीव गोस्वामी ने भी लिखा है—सामान्यतस्तु द्वापरे शुक पत्र वर्णत्वम्-द्वापर के साधारण युगावतार का शुकपत्रवर्ण"। इसलिये श्याम एवं शुक-पत्राभ इन दोनों शब्दों से एक ही अर्थ प्रगट होता है—हरिद्वर्ण। हम भी कहते रहते हैं—शस्य श्यामला वसुन्धरा,शस्य के वर्ण के समान—हरिद्वर्ण, इसको ही श्यामल कहते हैं। पुनः उल्लिखित प्रमाणों में कलि के युगावतार के सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं। हरिवंश का मत कृष्ण, एवं विष्णु धर्मोत्तर का मत—श्याम। इस स्थान पर भी वास्तविक कोई विरोध नहीं है। कारण कि श्याम शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है—कृष्ण। इसी से श्रीकृष्ण को श्यामसुन्दर, राधाकृष्ण को राधाश्याम कहते हैं। जो हो, शास्त्रों के प्रमाण से यह विदित हुआ कि कलियुग के साधारण युगावतार का नाम कृष्ण और उनका वर्ण भी कृष्ण है। किन्तु कलि के युगावतार पीत वर्ण हैं, यह किसी शास्त्र प्रमाणमें नहीं मिलता। पहले ही कहा जाचुका है—यथा शुक्लोरक्तः,तथा पीतः। यह अन्वय स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि शुक्ल एवं रक्त जैसे सत्य तथा त्रेता के साधारण युगावतार हैं, पीत भी उसी प्रकार कलि के साधारण युगावतार हैं। किन्तु यह शास्त्र सम्मत नहीं है, इसी से "यथा शुक्लोरक्तः तथा पीतः" इस प्रकार भी अन्वय स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसलिये दूसरा अन्वय ही स्वीकार करना होगा, और उस अन्वय से जो अर्थ होता है उसे ही स्वीकार करना होगा। नहीं तो 'तथा' शब्द ही उपेक्षित्त हो जायेगा।

दूसरा अन्वय है, "यथा कृष्णतां गतः, तथा पीतः (पीततां गत)"। पहले ही कहा जा चुका है, 'कृष्णतां गतः' वाक्य में नन्दनन्दन का स्वयं भगवत्त्वा विदित होती है, इसलिये "पीतः" शब्द में भी स्वयं भगवत्त्वा ही विदित होगी नहीं तो यथा-तथा द्वारा व्यंजित समान धर्मत्व नहीं रहता। इससे यह विदित हुआ कि पहले किसी एक कलि में स्वयं भगवान् नन्दनन्दन

ही स्वयं भगवान् रूपमें पीतवर्ण से अवतीर्ण हुये थे। पीत शब्द से स्वर्णवर्ण या गौर वर्ण ही समझा जाता है। इसलिये पहले **किसी एक कलि में गौरवर्ण से स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुये थे, यह "आसन् वर्णः" श्लोक से विदित हुआ।**

उल्लिखित आलोचना में किसी स्थान पर साधारण युगावतार शब्द प्रयोग हुआ है, इसका तात्पर्य यह है कि जिस युग में स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं, उस युग में युगावतार प्रथक् रूप में अवतीर्ण नहीं होते वह स्वयं भगवान् में ही स्थित रहते हैं। और जिस युग में स्वयं भगवान् अवतीर्ण नहीं होते हैं, उस युग में युगावतार अपने रूप और नाम से अवतीर्ण होते हैं, उनको ही "साधारण युगावतार" कहा जाता है। इस प्रकार सत्य-युग के साधारण युगावतार शुक्ल, और त्रेता के रक्त, द्वापर के साधारण युगावतार हुये शुक पत्राभ (श्याम) एवं कृष्ण (स्वयं भगवान् कृष्ण नहीं उनके अंश) हुये कलि के साधारण युगावतर। जिस कलि में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पीतवर्ण में अवतीर्ण हुये उस कलि में, अन्य कलि के साधारण युगावतार कृष्ण प्रथक् रूप से अवतीर्ण नहीं हुये। स्वयं भगवान् ब्रह्मा के एक दिन में केवल एक बार अवतीर्ण होते हैं।

पूर्ण भगवान् कृष्ण ब्रजेन्द्रकुमार।
गोलोके ब्रजेर सह नित्य बिहार॥
ब्रह्मार एक दिने तेहों एक बार।
अवतीर्ण हय्या करेन प्रकट बिहार॥

—श्री चै० च० १. ३. ३-४

विष्णु पुरण के मत के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन के भीतर एक हजार चतुर्युग अर्थात् एक हजार सत्ययुग, एक हजार त्रेतायुग, एक हजार द्वापरयुग, एवं एक हजार कलियुग होते हैं।

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चैव चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत् सहस्रञ्च ब्रह्मणो दिवसं मुने॥

वि० पु० १. ३. १४

उपरोक्त आलोचना से विदित हुआ कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण सब कलियुगों में पीत वर्ण से प्रगट नहीं होते हैं, किसी किसी कलि-

युग में उक्तरूप से अवतीर्ण होते हैं। किस कलियुग में वे पीतवर्ण या गौरवर्ण में अवतीर्ण होते हैं?—श्रीमद्भागवत् के "कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णम्" इत्यादि श्लोक से यह निर्णय हो सकता है। इस समय उस श्लोक की आलोचना करते हैं।

किस कलियुग में स्वयं भगवान् का गौरवर्ण से अवतार हुआ?

गत द्वापर युग में कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिपलायन, आविर्होत्र द्रुमिल चमस एवं करभाजन—ये नौ योगीन्द्र निमि महाराज के पास उपस्थित हुये। निमि महाराज के प्रश्न पर उन्होंने अनेक तत्वों की बात प्रचट की। किस युग में भगवान् किस रूप में अवतीर्ण होते हैं? किस युग के कौन उपास्य हैं? उनकी उपासना की क्या विधि है? निमि महाराज के यह प्रश्न पूछने पर नवयोगीन्द्रों में एकतम करभजन ऋषि ने सत्य, त्रेता, एवं द्वापर के उपास्य स्वरूपों का विवरण, तथा उपासना-विधि बताकर उसके उपरान्त कलि के उपास्य एवं उपासना की बात कही।

ऋषि करभाजन की उक्ति का तात्पर्य स्वीकार करने से पहले एक बात स्मरण रखना आवश्यक है। वह यह कि,श्रुति वाक्यों से विदित होता है-वेद, इतिहास(महाभारत)और पुराण हैं अपौरुषेय परमब्रह्म के निश्वास। "एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वासितमेतद्र यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्"। मस्त्य पुराण से विदित होता है कि अपौरुषेय पुराण एक मात्र था जिस में शतकोटि श्लोक थे।" पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ। त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटि-प्रविस्तरम्॥ —(मत्स्य पु०५३-४)। प्रत्येक द्वापर में भगवान् ही श्रीव्यासरूप में चारलाख श्लोक युक्त अठारह पुराणों को भूलोक में प्रकाशित करते हैं। देव लोक में आजतक भी शतकोटि श्लोकात्मक पुराण वर्तमान है।

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तथाष्टदशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन प्रकाश्यते॥
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटि प्रविस्तरम्॥

म० पु० ५३. ८-१०

प्रत्येक द्वापर में चतुर्लक्ष-श्लोकात्मक जो अष्टादश पुराण प्रकट होते हैं, वे उसी चतुर्युग के ही उपयोगी हैं जिसके अन्तर्गत वह द्वापर है। वर्त्तमान में जो सब पुराण प्रचलित हैं वे सब वर्त्तमान चतुर्युग के उपयोगी हैं। ऋषि करभाजन ने जो चतुर्युग के उपास्य तथा उपासना की बात कही है, वह भी वर्त्तमान चतुर्युगी के अन्तर्गत सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के सम्बन्ध में ही है। उन्होंने जो कलियुग के उपास्य एवं उपासना की बात कही है, वह भी वर्त्तमान चतुर्युग के अन्तर्गत कलि (अर्थात् वर्तमान कलि) के सम्बन्ध में है। द्वापर युग में ही वे यह कह गये हैं।

करभाजन ऋषि ने कलि के उपास्य तथा उपासना की जो बात कही है वह इस प्रकार है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायै र्यजन्ति हि सुमेधसः॥

श्री० भा० ११. ५. ३२

इस श्लोक के द्वितीयार्द्ध में कलि के उपास्य भगवत्-स्वरूप की विधि की बात कही गयी है कि—सुमेधा व्यक्तिगण संकीर्त्तन प्रधान उपचार के द्वारा उनकी अर्चना व उपासना करते हैं, और कलि में उपास्य रूप में जो अवतीर्ण होंगे, उनका परिचय श्लोक के प्रथमार्द्ध में दिया है। वे साङ्गोपाङ्गास्त्र, पार्षदकृष्णवर्ण एवं त्विषाकृष्ण हैं—इन शब्दों का क्या अर्थ है? यह देखना चाहिये।

साङ्गोपाङ्गास्त्रिपार्षद—अङ्ग एवं उपाङ्गरूप अस्त्र एवं पार्षदों के सहित उपस्थित हैं। कलि के उपास्य के अङ्ग एवं उपाङ्ग उनके पार्षद एवं अस्त्र का कार्य करते हैं। जिस उद्देश्य से भगवान् अवतीर्ण होते हैं, उनके अस्त्र एवं पार्षद उसी उद्देश्य की सिद्धि का आनुकूल्य करते हैं और जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कलि के उपास्य अवतीर्ण होंगे उनके अंग एवं उपांग उसी की सिद्धि की अनुकूलता करेंगे, इसी कारण उनके अङ्ग एवं उपांगों को उनके अस्त्र एवं पार्षद कहा गया है।

'कृष्ण वर्ण' एवं 'त्विषाकृष्ण' शब्दों के द्वारा कलि के उपास्य स्वरूप का वर्णन किया गया है। इन शब्दों का तात्पर्य स्वीकार करने के लिये एक बात स्मरण रखनी होगी कि इस श्लोक में वर्त्तमान चतुर्युगीय कलियुग के उपास्य की ही बात कही गयी है—यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिये उससे सम्बन्धित आलोचना में श्रीनृसिंह देव के समक्ष प्रह्लाद की उक्ति स्मरण रखनी होगी।

प्रह्लाद ने कहा था—"छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्। (श्री भा० ७. ९. ३८) —"कलि में भगवान् का छन्नावतार होगा। छद्-धातु से छन्न शब्द निष्पन्न हुआ है। छद् धातु आच्छादन में प्रयुक्त होती है। इसलिये छन्न शब्द का अर्थ हुआ—'आच्छादित'। वर्त्तमान चतुर्युगीय कलि में जो अवतीर्ण होंगे, उनका विग्रह आच्छादित रहेगा। इसलिये उस विग्रह का निजस्व या स्वाभाविक रूप या वर्ण साधारणतः दिखाई नहीं देगा। इसी कारण स्वाभाविक रूप की कान्ति भी बाहर दिखाई नहीं देगी। जिसके द्वारा वह आच्छादित रहेंगे उनका ही रूप कान्ति बाहर दिखाई देगी। यह छन्नत्व ही वर्त्तमान चतुर्युगीय कलि के अवतार का एक विशेष लक्षण है। यह लक्षण जिसमें नहीं है, उनको कलि के अवतार के रूप में स्वीकार नहीं किया जायेगा। कारण कि वस्तु का परिचय किसी विशेष लक्षण के द्वारा होता है, सामान्य लक्षण द्वारा नहीं। पूँछ रोम द्वारा आच्छादित चार पैरों का जानवर कहने से गाय का परिचय नहीं मिलता है, कारण कि पूँछ रोमाच्छादित चार पैरों वाले जानवर अनेक हैं। सास्ना (गलकम्बल) ही गाय का विशेष लक्षण है। इस लक्षण-विशेष के बिना गाय नहीं पहचानी जाती है।

श्लोकस्थ 'कृष्णवर्ण' एवं 'त्विषाकृष्ण' शब्दों के एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं, किन्तु जिस वा जिन समस्त अर्थों में उपर्युक्त विशेष लक्षण—'छन्नत्व' प्रगट होगा, वर्त्तमान चतुर्युगी के कलियुग के उपास्य का स्वरूप निर्णय केवलमात्र उस अथवा उन्हीं सब अर्थों से ही मानना पड़ेगा। यही बात स्मरण करके अर्थालोचना करनी होगी। इस समय 'कृष्णवर्ण' एवं 'त्विषा कृष्ण' शब्दों की आलोचना की जायेगी।

'कृष्णवर्णः'—इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम तो, कृष्ण है वर्ण जिनका अर्थात् जिनका वर्ण कृष्ण है—वह कृष्णवर्ण। दूसरा, कृष्ण वर्णयति यः सः कृष्णवर्णः, कृष्ण का—कृष्ण की रूप-गुण लीलादिकों का जो वर्णन करे वह कृष्णवर्ण। इन दो अर्थों में कौन सा ग्रहणीय है या दोनों ग्रहणीय है। यह निर्णय करना होगा—त्विषाकृष्ण शब्द के अर्थ के साथ।

'त्विषा कृष्णः' यह दो शब्द भी हो सकते हैं और एक शब्द भी। 'त्विषा' एवं 'कृष्ण' यह दोनों शब्द श्लोक में प्रथक् २ होने से ऐसा मालूम होता है, कि 'त्विषा कृष्ण' दो शब्द होंगे। त्विट्-शब्द का अर्थ है, तेज या कान्ति। उसकी तृतीय विभक्ति में 'त्विषा' होता है जिसका अर्थ है—कान्ति द्वारा—कन्ति से। 'त्विषा कृष्णः'वाक्यांश का अर्थ होगा—कान्ति से कृष्ण, अर्थात् जिसकी कान्ति या बाहर का वर्ण कृष्ण है। और त्विषा+अकृष्णः =(सन्धि करने पर)त्विषाकृष्णः 'त्विषा' एवं 'अकृष्णः' इन दोनों शब्दों की सन्धि करने से एक शब्द बनेगा—त्विषाकृष्णः,अर्थ होगा—कान्तिसे अकृष्ण, जो प्रथम अर्थ से बिलकुल विपरीत है। विशेष लक्षणके साथ एवं कृष्णवर्ण शब्द के अर्थ के साथ सङ्गति रख कर निर्णय करना होगा। इस 'त्विषा-कृष्णः' शब्द के परस्पर विरोधी दोनों अर्थों में कौन सा ग्रहणीय है।

पहले 'त्विषा कृष्णः' को दो शब्द मान कर उसके, 'कान्ति से कृष्ण' इस अर्थ से 'कृष्णवर्ण' शब्द के दोनों अर्थों की अथवा किसी एक की सङ्गति हो सकती है या नहीं, इसकी विवेचना की जाती है। 'कृष्णवर्ण' शब्द का एक अर्थ है—जिनका वर्ण कृष्ण हो। जिनका वर्ण कृष्ण हो, वे यदि 'त्विषा कृष्णः'—कान्ति से कृष्ण हों तो उनमें 'छन्नत्व' नहीं पाया जाता, कारण, जिनका वर्ण कृष्ण है, आच्छादित न होने पर उनकी कान्ति भी कृष्ण ही होगी। 'छन्नत्व' नहीं है, इस कारण यह अर्थ मान्य नहीं हो सकता है।

अब यह देखा जाय कि 'कृष्णवर्ण' शब्द का अर्थ जो कृष्ण का वर्णन करते हैं'—इस अर्थ के साथ 'त्विषा कृष्ण' शब्द के अर्थ की संगति होती है या नहीं। जो कृष्ण का वर्णन करते हैं उनके अपने वर्ण के बारे में कुछ विदित नहीं होता है, उनका वर्ण यदि कृष्ण न हो, तब 'कन्ति कृष्ण' होने से छन्नत्व समझा जा सकता है, किन्तु वे कौन हो सकते हैं? या तो स्वयं भगवान् हो सकते हैं, नहीं तो लीलावतार अथवा युगावतार—इन तीनों में से कोई होंगे, कारण कि इन तीनों रूपों में ही भगवान् ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं। इन तीनों रूपों में लीलावतार को छोड़ना होगा, क्यों कि कलियुग में भगवान् का लीलावतार नहीं होता।

कलियुगे लीलावतार ना करे भगवान्।
अतएव त्रियुग करि कहि तार नाम॥

श्री चै० च० १. ६. ९७

लीलावतार को छोड़ कर बाकी रहे—स्वयं भगवान् अथवा युगावतार। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का वर्ण कृष्ण है, और पहले ही कहा गया है कि कलि के साधारण युगावतार का वर्ण भी कृष्ण है। इनमें कोई यदि कलियुग में अवतीर्ण होकर कृष्ण का वर्णन करे और यदि उसकी कान्ति भी कृष्ण—'त्विषा कृष्णः' हो तो इससे 'छन्नत्व' नहीं मिलता है। कारण कि उनका वर्ण कृष्ण है, तथा और किसी भी वर्ण से आच्छादित होने पर उनकी कान्ति कृष्ण नहीं हो सकती।

उल्लिखित आलोचना से विदित हुआ कि—"त्विषा कृष्ण" को दो शब्द मान कर विशेष लक्षण—'छन्नत्व' के साथ संगति करने से कोई अर्थ नही निकलता है। इसलिये 'त्विषा कृष्ण' दो शब्द हैं,इस प्रकार का विचार ठीक नहीं है।

अब "त्विषा कृष्ण" को एक ही शब्द मानकर उसका अर्थ—कान्ति से अकृष्ण,—मान कर कोई युक्त अर्थ मिलता है या नहीं—यह देखते हैं।

"कृष्णवर्ण" शब्द के "जिसका वर्ण कृष्ण"—इस अर्थ के साथ "त्विषा कृष्ण" शब्द के "कान्ति से अकृष्ण"—इस अर्थ की संगति होती है या नहीं, यह देखा जाए। जिसका वर्ण 'कृष्ण' किन्तु कान्ति 'अकृष्ण' है, इससे यह सहज में ही समझा जाता है कि वे किसी वर्ण के द्वारा आच्छादित हैं, तभी अकृष्ण हैं। इसलिये इस स्थान पर विशेष "छन्नत्व" का लक्षण मिलता है। यही अर्थ ग्रहण योग्य है।

इसके उपरान्त "कृष्णवर्ण" शब्द का दूसरा अर्थ—"जो कृष्ण का वर्णन करते हैं"—इस अर्थ पर विचार करते हैं। जो कृष्ण का वर्णन करते हैं—उनका निजी वर्ण क्या है—विदित नहीं होता, किन्तु उनकी कान्ति "अकृष्ण" है। वे कौन हो सकते हैं। पहली आलोचना के अनुसार कलियुग में जब लीलावतार नहीं है, तब वे या तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हो सकते हैं और नहीं तो कलियुग के साधारण युगावतार ही होंगे। दोनों का ही वर्ण कृष्ण है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अथवा साधारण युगावतार-कृष्ण कलियुग के उपास्य रूप में यदि 'अकृष्ण कान्ति' में अवतीर्ण हों तब यह होने पर विशेष लक्षण 'छन्नत्व' प्राप्त होता है। अतः इस प्रकार का अर्थ भी ग्रहणीय हो सकता है।

अब यह निर्णय करना होगा कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही 'अकृष्ण

वर्ण' में आच्छादित होकर कलियुग में अवतीर्ण होंगे—अथवा युगावतार कृष्ण। अकृष्णवर्ण में अवतीर्ण होंगे—ऐसा जो करभाजन ऋषि ने कहा। युगावतार अन्य किसी वर्ण से आच्छादित होकर अवतीर्ण होते हैं, इस प्रकार का कोई भी प्रमाण शास्त्रों में देखा नहीं जाता। इसलिये कलियुग में 'अकृष्णवर्ण' में आच्छादित होकर युगावतार कृष्ण अवतीर्ण होंगे—यह बात ऋषि करभाजन द्वारा अभिप्रेत नहीं हो सकती है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही किसी विशेष कलियुग में 'पीतवर्ण में अवतीर्ण होते हैं—पूर्वोद्धृत' **"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य ग्रह्लतोऽनुयुगं तनूः। शुक्लोरक्तस्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः"**—श्लोक से यही विदित होता है। इसलिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही इस वर्तमान चतुर्युगीन कलि में "अकृष्णवर्ण" में अवतीर्ण होंगे—यही करभाजन का मत है, मानना होगा। किन्तु यह 'अकृष्ण वर्ण' क्या है? "आसन् वर्णाः"—श्लोक से विदित होता है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण किसी विशेष कलियुग में 'पीत' वर्ण, में अवतीर्ण होते हैं। स्वयं भगवान् के रूप में वे कृष्णवर्ण या पीतवर्ण के अतिरिक्त किसी और वर्णमें अवतीर्ण होते हैं–इस प्रकार का कोई शास्त्र प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसलिये "अकृष्णवर्ण" कहने से 'पीत' वर्ण का ही ज्ञान होता है। इसलिये कविराज गोस्वामीने कहा—अकृष्ण वरणे कहे पीत वरण' (श्री चै० च० १. ३. ४५) पीत वर्ण, स्वर्णवर्ण, गौरवर्ण।

इस प्रकार—"कृष्णवर्ण त्विषाकृष्णम्" इत्यादि श्लोक से यही विदित होता है कि—वर्तमान कलियुग के उपास्य रूप में जो अवतीर्ण होंगे, उनके बारे में गत द्वापर में ही करभाजन ऋषि कह गये हैं कि वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं किन्तु उनका स्वयं का कृष्णवर्ण आच्छादित रहेगा—पीतवर्ण या गौरवर्ण द्वारा एवं उनके अङ्ग अथवा उपाङ्ग उनके अस्त्र एवं पार्षदों का कार्य करेंगे।

गत द्वापर युग में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण हुये थे, करभाजन बोले—उसके ठीक बाद वर्त्तमान कलियुग में वे ही फिर पीतवर्ण या गौरवर्ण में अवतीर्ण होंगे। यह भी विदित हुआ है कि—किसी विशेष कलियुग में स्वयं भगवान् गौर या पीतवर्ण में अवतीर्ण होते हैं। सब कलियुग में नहीं। सब कलियुग में यदि वे पीतवर्ण में अवतीर्ण होते—तब शास्त्रों में कलियुग के साधारण युगावतार की बात नहीं कही जाती।

अतः यह ज्ञात हुआ कि—जिस द्वापर में स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण अवतीर्ण होते हैं, इसके ठीक बाद का कलियुग ही होता है विशेष कलियुग—एवं उसी विशेष कलियुग में श्रीकृष्ण गौरवर्ण में अवतीर्ण होते हैं।

स्वयं भगवान् के गौरत्व का कारण

"कृष्णवर्ण त्विषाकृष्णम्" श्लोक की आलोचना से विदित हुआ कि विशेष कलियुग में (जिस द्वापर में स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं, उसके ठीक बाद के कलिपुग में) स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही गौरवर्ण में अपने श्याम वर्ण को आच्छादित कर अवतीर्ण होते हैं। यह गौर वर्ण श्रीकृष्ण भी श्रीब्रजेन्द्रनन्दन का ही आविर्भाव विशेष हैं।

विभिन्न भगवत्-स्वरूप स्वरूपों में भिन्न होने पर भी मूलतः एक ही तत्व हैं, कारण कि एक ही स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन विभिन्न भगवत्-स्वरूपों के रूप में अनादि काल से आत्म-प्रकट कर विराजित हैं। उनमें भेद केवल भाव-वर्णादि का है। इसलिये विभिन्न भगवत्-स्वरूपों का वैशिष्ट्य उनके भाव वर्णादि का वैशिष्ट्य है। और फिर "सर्वे पूर्णाः शाश्वताश्च"—इस शास्त्र-वचन से विदित होता है कि—सब भगवत्-स्वरूप नित्य हैं। इसलिये उनके अपने-अपने भाव और वर्णादि भी नित्य हैं। इसलिये गौरवर्ण स्वयं भगवान् का गौर वर्ण भी नित्य है, केवल प्रकट लीला के समय ही होता हो ऐसा नहीं है। यदि केवल प्रकट-लीला में ही हो तो इसका नित्यत्व नहीं रहेगा।

किन्तु स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन का स्वरूपगत वर्ण होता है—नव जलधर श्याम। "मेघाभं विद्युताम्बरम्" इत्यादि गोपाल-तापनी श्रुति वाक्य ने भी यही लिखा है। अतः यह गौर वर्ण कहां से आया?

यह पीतवर्ण या गौरवर्ण जब नित्य है, एवं यह वर्ण जब गौरवर्ण स्वयं भगवान् के स्वरूप में ही नित्य अवस्थित है तो यह स्वीकार करना होगा कि जो स्वयं भगवान् के सङ्ग अन्तरङ्ग भाव से, नित्य सम्बन्ध-विशिष्ट है ऐसी ही कोई वस्तु इस पीतवर्ण का हेतु अथवा कारण होगी। एक मात्र उनकी स्वरूप शक्ति ही अन्तरङ्ग भाव से उनके साथ नित्य-सम्बन्ध विशिष्ट है। स्वरूप शक्ति के सिवाय और कुछ भी उनके स्वरूप में–

विग्रह में या विग्रह के अन्दर—नहीं रहती है। इसलिये इस पीतवर्ण का कारण वह स्वरूप-शक्ति ही होगी, और दूसरी कोई वस्तु नहीं हो सकती।

स्वरूप-शक्ति दो प्रकार से अवस्थित रहती है—मूर्त्त एवं अमूर्त्त। अमूर्त्त शक्ति शक्तिमान में ही रहती है। समस्त भगवत्-स्वरूपों में यह रहती है। अमूर्त्त शक्ति का कोई वर्ण नहीं है। इसलिये अमूर्त्त शक्ति के द्वारा किसी भगवत्-स्वरूप का "छन्नत्व" घटित नहीं हो सकता।

शक्ति की मूर्त्त रूप हुई—शक्ति की अधिष्ठात्री-देवता। मूर्त्त रूप में स्वरूप-शक्ति विभिन्न भगवत्-स्वरूपों की कान्तारूप से उन-उन भगवत्-स्वरूपों की सङ्गिनी रूप में विराजती हैं। जैसे—वैकुण्ठाधिपति नारायण की वक्ष-विलासिनी श्रीलक्ष्मी देवी, श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की प्रेयसी शिरोमणि श्रीराधा इत्यादि। पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीराधा हैं—सर्वशक्ति गरीयसी ह्लादिनी की सारभूता मादनाख्य महाभाव स्वरूपिणी। श्रीराधा ही श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति का मूल मूर्त्त रूप हैं, स्वरूप-शक्ति की मूल अधिष्ठात्री, लक्ष्मीदेवी आदि उनकी अंश रूपा हैं। **"यस्या अंशे लक्ष्मी दुर्गादिका शक्तिः"**—(सिद्धान्त रत्न २२/२ अनुच्छेद धृत अथर्व वेदान्तर्गत पुरुष बोधिनी श्रुति वाक्य)॥ मूर्त्त शक्ति का रूप होता है, वर्ण होता है। इसलिये मूर्त्त शक्ति ही वर्ण दे सकती है। जो मूर्त्त शक्ति जिस भगवत्-स्वरूप की कान्तारूप में है, वही उस भगवत्-स्वरूप की नित्यसङ्गिनी है, वही मूर्त्त शक्ति केवल मात्र उस भगवत्-स्वरूप को अपना वर्ण दे सकती है। दूसरे और किसी भगवत्-स्वरूप को नहीं दे सकती। कारण कि दूसरे किसी भगवत्-स्वरूप के साथ उसका नित्य-सङ्गित्व नहीं है इस प्रकार स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन की नित्य सङ्गिनी श्रीराधा ही व्रजेन्द्र-नन्दन को अपना वर्ण दे सकती हैं, लक्ष्मी आदि ऐसा नहीं कर सकती।

किन्तु एक व्यक्ति, एक दूसरे व्यक्ति को कैसे अपना वर्ण दे सकता है? वर्ण तो शरीर के साथ अविच्छेद भाव से संलग्न रहता है। इसलिये श्रीराधा किस प्रकार व्रजेन्द्रनन्दन को अपना वर्ण दे सकती हैं?—इसका उत्तर यह है—श्रीराधा हैं—गौराङ्गी; मूर्त्त शक्ति होने के कारण श्रीराधा का यह गौर वर्ण है, अमूर्त्त होने पर उनका कोई वर्ण ही नहीं रहेगा। इसलिये श्रीराधा अपना मूर्त्तत्व अक्षुण्ण रखकर—यदि व्रजेन्द्रनन्दन के

बहिरावरण के रूप में उनके साथ एकत्व प्राप्त कर सके, तो वे व्रजेन्द्रनन्दन को अपने वर्ण से आच्छादित कर सकती हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि—एक व्यक्ति दूसरे एक व्यक्ति के साथ क्या इस प्रकार एकत्व प्राप्त कर सकता है? यदि दोनों व्यक्ति भिन्न तत्व हों तो उपरोक्त प्रकार से एकत्व को प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु पहले ही शास्त्र प्रमाणों के द्वारा यह व्यक्त किया जा चुका है कि—श्रीराधा एवं व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण भिन्न नहीं हैं, वे एकात्मा हैं, एक ही रूप हैं, एक ही स्वरूप होने के कारण उपर्युक्त भाव से एकत्व प्राप्ति होना असम्भव नहीं है।

अब पुनः प्रश्न हो सकता है कि—श्रीराधा उपर्युक्त भाव से श्रीकृष्ण के सहित एकत्व को क्यों प्राप्त होंगी? उत्तर यह है कि—श्रीराधा श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति हैं। शक्ति का एक मात्र कार्य शक्तिमान की सेवा है। उसी में शक्ति का शक्तित्व है। श्रीराधा का भी एक मात्र कर्त्तव्य—उनके शक्तिमान—श्रीकृष्ण की सेवा, श्रीकृष्ण के अभीष्ट की पूर्ति करना है। इसलिये कहा गया है—

कृष्ण वाञ्छा पूर्तिरूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराने बाखाने॥

श्री चै० च० १. ४. ४५

श्रीकृष्ण के किस अभीष्ट की पूर्ति के हेतु—श्रीराधा ने श्रीकृष्ण के साथ एकत्व प्राप्त किया?

इसका उत्तर यह है कि—परब्रह्म श्रीकृष्ण रस-स्वरूप हैं। "रसो वै सः" (श्रुति)। पहले ही कहा जा चुका है कि 'रस' शब्द के दो अर्थ हैं—परम आस्वाद्य रस एवं परम आस्वादक—रसिक शिरोमणि। रसघन विग्रह, आनन्दघन विग्रह, माधुर्यघन विग्रह कह कर ही श्रीकृष्ण परमतम आस्वाद्य हैं। वे अपने माधुर्य से सबके चित्त को आकर्षण करने वाले हैं।

पुरुष योषित किम्वा स्थावर जङ्गम।
सर्व चित्त आकर्षक साक्षात् मन्मथ मदन॥

श्री चै० च० २. ८. ११०

उनका माधुर्य—

कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम, ताहां जो स्वरूप गण,
बले हरे ता-सभार मन।
पतिव्रता शिरोमणि, जारे कहें वेदबाणी,
आकर्षये सेई लक्ष्मीगण॥

श्री चै० च० २. २१. ८८

श्रीकृष्ण के माधुर्य आस्वादन के लोभ से परव्योमाधिपति नारायण ने महाकाल रूपी कारणार्णव में रहकर द्वारकावासी जनैक ब्राह्मण के पुत्रों को चुराया—ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्ण ब्राह्मण पुत्रों को लेने के लिये महाकालपुरी में आयेंगे—तब उनका दर्शन कर वह अपनी इच्छा की पूर्ति कर सकेंगे—इस आशा से। वास्तव में अर्जुन को लेकर श्रीकृष्ण जब ब्राह्मण पुत्रों की खोज में महाकालपुर पधारे तथा महाकाल रूपी नारायण ने सारी कथा कही।

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता भुवि धर्म गुप्तये।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूय स्तरयेतन्ति मे॥

श्री भा० १०. ८९. ५८

श्रीकृष्ण की सेवा के लिये लुब्ध होकर—वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी ने जो उत्कट तपस्या की थी—श्रीमद्भागवत में उसका भी प्रमाण मिलता है।

यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥

श्री भा० १०. १६. ३६

केवल यही नहीं—

रूप देखि आपनार, कृष्णेर हय चमत्कार,
आस्वादिते मने उठे काम।

श्री चै० च० २. २१. ८६

श्रीकृष्णेर माधुर्य—आत्म पर्यन्त सर्वचित्त हर।

श्री चै० च० २. २८. ११२

श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि श्रीकृष्ण का रूप—**"विस्मापनं स्वस्य च"** (३-२-१२) स्वयं श्रीकृष्ण को भी विस्मयान्वित करता रहता है। क्या ऐसा मेरा रूप है? अपने निज रूप को देखकर—श्रीकृष्ण के

एक विस्मय का वर्णन श्रीपाद रूपगोस्वामी करते हैं। द्वापर में एक दिन मणियों से जड़ी दीवारों में अपने रूप का प्रतिबिम्ब देखकर आश्चर्य से हठात् श्रीकृष्ण कह उठे :—

अपरि कलित पूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष मे माधुर्य पूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥

ललित-माधव ८. ३२

—अहो! अननुभूतपूर्व चमत्कार-जनक एवं गरीयान कैसी अनिवर्चनीय मेरी यह माधुर्य-राशि प्रकाश पा रही है—जिसे देख कर मैं भी (जिसकी परछाईं है वह मैं भी) लुब्ध-चित्त होकर श्रीराधा की भांति उत्सुकता पूर्वक उपभोग करने की इच्छा कर रहा हूँ। जिसे देखकर आश्चर्य होता है, उसका आस्वादन करने की वासना स्वाभाविक होती है।

इस प्रकार विदित हुआ कि श्रीकृष्ण की अपने माधुर्य के आस्वादन की एक बलवती लालसा है। व्रजेन्द्रनन्दन के रूप में उन्होंने अपनी यह लालसा पूर्ण की—यह शास्त्रों से विदित नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि व्रजेन्द्रनन्दन रूप में उनकी इस वासना की पूर्ति होना सम्भव नहीं। उसी का कारण बताया जाता है।

रस आस्वादन ही रसिक-शेखर श्रीकृष्ण का स्वरूपगत स्वभाव है। यह उनका स्वरूपगत स्वभाव होने के कारण अप्रकटलीला में तो वह रस आस्वादन करते हैं एवं ब्रह्माण्ड में जब प्रकटलीला करते हैं तब भी वे रस आस्वादन करते हैं। और दोनों लीलाओं में वे अपने परिकर वर्ग को भी रस आस्वादन कराते हैं। उनका आस्वाद्य रस दो प्रकार का है। भक्त के प्रेमरस का निर्यास एवं अपना माधुर्य रस। भक्त का प्रेम रस-निर्यास उत्साहित होता है—उनकी लीला से, उनके परिकर-भक्तों के साथ लीला में। वह उनको प्रेम-रस आस्वादन कराते हैं। और परिकर भक्तों को भी आस्वादन कराते हैं, एवं परिकर-भक्तजन उनके माधुर्य रस का आस्वादन करते हैं।

श्रीकृष्ण-माधुर्य के आस्वादन का एक मात्र उपाय है—कृष्ण-विषयक-प्रेम।

पञ्चम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन।
कृष्णेर माधुर्य रस कराय आस्वादन॥

श्री चै० च० १. ७. १३७

जिसमें प्रेम का जितना विकास है, वह श्रीकृष्ण का माधुर्य भी उतना ही आस्वादन कर सकेगा। श्रीकृष्ण की वाणी में श्री कविराज गोस्वामी ने यह कहा है—

आमार माधुर्य नित नव नव हय।
स्व-स्व प्रेम अनुरूप भक्त आस्वादय॥

श्री चै० च० १. ४. ११५

श्रीराधा का मादनाख्य प्रेम ही प्रेम का सर्वातिशायी विकासमय प्रेम है। इसी में ही प्रेम का पूर्णतम विकास है। इसलिये श्रीराधा ही पूर्णतम रूप से श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन कर सकती हैं और इस माधुर्य के आस्वादन से उत्पन्न आनन्द भी श्रीराधा में ही सर्वापेक्षा अधिक है। श्रीराधा ही इस मादन की आश्रय हैं, श्रीकृष्ण इसके केवल विषय मात्र हैं। श्रीकृष्ण में मादन-भाव का विकास नहीं है। लीला-रस-वैचित्री सम्पादनार्थ ही इस प्रकार होता है। इसलिये अपने माधुर्य रस को पूर्ण रूप से आस्वादन करने का उपाय ब्रजलीला में श्रीकृष्ण का नहीं है, प्रकट-लीला में भी नहीं है और अप्रकट लीला में भी नहीं है। प्रेम के विषय रूप में श्रीराधादि परिकर वर्ग की सेवा प्राप्त कर उनके प्रेम-रस निर्यास का आस्वादन कर जो आनन्द प्राप्त होता है—ब्रजलीला में श्रीकृष्ण वह आनन्द पूर्णतम रूप से आस्वादन करते हैं किन्तु प्रेम के आश्रय रूप से श्रीराधिकादि उनकी सेवा कर माधुर्य-रस आस्वादन कर जो आनन्द प्राप्त करती हैं—श्रीकृष्ण उसका उपभोग नहीं कर सकते। तभी उनकी स्वीय माधुर्य की पूर्णतम रूप में आस्वादन करने की इच्छा अपूर्व रहती है। उनके माधुर्य को पूर्णतम रूप से आस्वादन कर श्रीराधा को, जो अनिर्वचनीय अपरिसीम आनन्द प्राप्त होता है, श्रीराधा के अङ्ग में उसकी लहर देखकर श्रीकृष्ण समझते हैं कि प्रेम के विषय रूप में वे जो आनन्द पाते हैं, उसकी अपेक्षा कोटि गुना आनन्द प्रेम के आश्रय रूप में श्रीराधा अनुभव करती हैं। विषय के आनन्द की अपेक्षा आश्रय का आनन्द अनन्त गुना अधिक है। श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है—

विषय जातीय सुख आमार आस्वाद।
आमा हैते कोटिगुन आश्रयेर आह्लाद॥

श्री चै० च० १. ४. ११५

निज प्रेमास्वादे मोर हय ये आह्लाद।
ताहा हैते कोटिगुन राधा प्रेमास्वाद॥

श्री चै० च० १. ४. १५९

नित्य प्रति श्रीराधा के अङ्ग में श्रीकृष्ण-माधुर्य के आस्वादन जनित आनन्द की तरङ्ग देख श्रीकृष्ण की अपने माधुर्य-आस्वादन की अपूर्ण वासना मानो घृताहूति प्राप्त अग्नि-शिखा की भांति धक्-धक् कर जलती रहती है। ब्रजलीला में अनादि काल से रसिक-शेखर श्रीकृष्ण की यही अवस्था हैं। जिस कारण ब्रजलीला में वे श्रीराधा के मादन-भाव के आश्रय नहीं है, हो भी नहीं सकते क्योंकि नित्य ब्रजलीला का वैशिष्ट्य ही यही है कि, इस स्थान पर श्रीकृष्ण श्रीराधा-प्रेम के विषय मात्र हैं। इस लीला में श्रीकृष्ण हैं प्रेम के विषय प्रधान विग्रह।

श्रीकृष्ण जानते हैं कि श्रीराधा-प्रेम के आश्रय हुये बिना उनकी अपने माधुर्य-आस्वादन की इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती है। तभी श्रीराधा प्रेम का आश्रय होने के लिये उनकी बलवती वासना होना अत्यन्त स्वाभाविक है। श्रीराधा भी यह जानती हैं।

गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाञ्छित।
प्रेम सेवा परिपाटी इष्ट समीहित॥

श्री चै० च० १. ४. १७५

आदि पुराण से विदित होता है कि श्रीकृष्ण ने भी यह बात कही थी—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्य्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

लघुभागवतामृतधृत—आदि पुराण वचन

अर्जुन से श्रीकृष्ण कह रहे हैं—मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरी स्पृहा का विषय एवं मेरे मनोगत भाव गोपिकायें ही स्वरूपतः जानती हैं,

और कोई भी उसे नहीं जानता। श्रीराधा का एक मात्र कर्त्तव्य ही है—श्रीकृष्ण की मनोवासना पूर्ण करना।

कृष्ण वाञ्छा पूर्ति रूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥

श्री चै० च० १. ४. ७५

वह यह भी जानती हैं कि—उनके मादनाख्य-प्रेम का आश्रय हुए बिना श्रीकृष्ण की इस अपूर्व वासना की पूर्ति नहीं हो सकती है। तभी उन्होंने अपना मादन भाव श्रीकृष्ण को दिया। किस प्रकार दिया?

पहले ही यह कहा जा चुका है कि श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण तत्वतः एकात्मा होने पर भी, दोनों मिलकर ऐक्य प्राप्त हुए बिना एक का भाव दूसरा नहीं ले सकता है। अपने मादन-भाव को श्रीकृष्ण को देने के लिये ही श्रीराधा को श्रीकृष्ण के साथ मिलकर एकता को प्राप्त होना पड़ा। श्रीराधा अपने मादनाख्य प्रेम के द्वारा श्रीकृष्ण के चित्त को, एवं अपनी नव गोरोचना—गौर अङ्ग द्वारा श्यामसुन्दर के श्याम अङ्ग को आच्छादित किये रखती हैं। इसी कारण ही श्यामसुन्दर गौरसुन्दर हुए हैं—त्विषाकृष्ण, अन्तःकृष्ण—बहिर्गौर हुए हैं।

किन्तु श्रीराधा ने अपने मूलतत्व—गौरवर्ण की रक्षा कर किस प्रकार अपने अङ्ग के द्वारा श्रीकृष्ण के समस्त अङ्ग को आच्छादित किया? श्रीउज्ज्वलनीलमणि से इसका उत्तर मिलता है। गोवर्धन पर्वत की किसी एक कुञ्ज में श्रीराधा और श्रीकृष्ण परस्पर एक दूसरे के माधुर्य आस्वादन में निमग्न हैं। उद्दीप्त सात्त्विक भाव उन दोनों के देह की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनकी यह भाव-माधुरी दर्शन कर श्रीवृन्दादेवी ने श्रीकृष्ण से कहा—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य भ्रमाद्
युञ्जन्नद्रि निकुञ्ज कुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिंगुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती॥

उ० नी० स्थायी भाव ११०

—हे गोवर्धन-गिरि-निकुञ्ज-बिहारी-कुञ्जरपते! श्रीराधिका के एवं तुम्हारे चित्तरूपी लाख को, स्वेद-(नामक सात्त्विक भाव रूपी ताप) द्वारा

क्रम-क्रम से द्रवीभूत कर भेद-भ्रम अपसारण-पूर्वक (दोनों के चित्त को) एकीभूत कर सुनिपुण शृङ्गार-शिल्पी ने इस ब्रह्माण्ड रूप अट्टालिका के भीतर चित्रित करने के हेतु अधिक मात्रा में नवराग रूप हिंगुल द्वारा स्वयं उसको अनुरञ्जित किया है।

इस उक्ति द्वारा जाना जाता है कि प्रेम-परिपाक ने श्रीश्रीराधाकृष्ण—दोनों के चित्त को गलाकर—इस प्रकार एक कर दिया कि उनका भेद भ्रम भी दूर हो गया। उस महापराक्रान्त प्रेम ने ही श्रीकृष्ण-प्रेममयी श्रीराधा के अङ्ग को मानो गलाकर उनके प्रति अङ्ग से श्रीकृष्ण के प्रति अङ्ग को आलिङ्गित कराकर श्याम को गौर कर दिया। यही स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण के गौरत्व का कारण है। इससे यह भी विदित हुआ कि—कृष्ण-वर्ण-त्विषाकृष्णम् श्लोक में वर्त्तमान कलियुग के उपास्य जिन भगवत्-स्वरूप की बात करभाजन ऋषि ने गत द्वापर में कही थी—वह है—**श्रीश्रीराधाकृष्ण का ऐक्य प्राप्त स्वरूप।** यही जो राधा भावद्युति सुवालित श्रीकृष्ण स्वरूप है, यह भी जाना गया।

स्वयं भगवान् के संन्यास रूप का शास्त्रीय प्रमाण—

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने उपपुराण में से एक प्रमाण श्रीचैतन्यचरितामृत में उद्धृत किया है। वह यह है—

अहमेव क्वचिद्ब्रह्मन् संन्यासाश्रममाश्रितः।
हरिभक्तिं ग्राहयामि कलौ पापहतान्नरान्॥

श्री चै० च० १. ३. १५ श्लोक

—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण व्यासदेव से बोले—हे ब्रह्मण्य व्यासदेव! किसी कलियुग में स्वयं मैं ही संन्यास आश्रम ग्रहणकर—पापहत मनुष्यों को हरिभक्ति ग्रहण कराता हूँ।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण किसी विशेष कलियुग में अवतीर्ण होकर। संन्यास ग्रहण करते हैं, एवं आपामर साधारण को (पापहतान् नरान्) हरिभक्ति (कृष्ण विषयक प्रेम) ग्रहण कराते हैं (प्रेमदान करते हैं) यह उपरोक्त प्रमाण से विदित हुआ।

श्रीकृष्ण ने व्यासदेव से उक्त बात कही है। व्यासदेव गत द्वापर में प्रकट हुये थे, इसलिये गत द्वापर में जब श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण हुये थे तभी उन्होंने व्यासदेव से यह बात कही थी—यह परिष्कार रूप में समझा जाता है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, वे व्रज-प्रेम देने में समर्थ हैं। गत द्वापर में जब अवतीर्ण हुये थे, तभी आपामर-साधारण को प्रेमदान क्यों नहीं किया? विशेष कलियुग की प्रतीक्षा में क्यों रहे? इसका उत्तर सम्भवतः यह है कि, श्रीकृष्ण प्रेम दे सकते हैं, पशु-पक्षी, वृक्षलता आदि को प्रेम दिया भी है। "यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्य बिभ्रन्" इत्यादि श्रीमद्भागवत की यह उक्ति इसका प्रमाण है। किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि द्वापर की व्रजलीला में वे अखण्ड प्रेम भण्डार के अधिकारी नहीं थे। अखण्ड प्रेम-भण्डार की एकमात्र अधिकारिणी थीं—महाभाव स्वरूपा प्रेमघन विग्रहा श्रीराधा। अखण्ड प्रेम भण्डार के अधिकारी न होने से बिना विचार हर किसी को व्रज-प्रेम—विशेषतः उन्नत उज्ज्वल रस स्वरूप कान्ता-प्रेम देना सम्भव नहीं है। विशेष कलियुग में श्रीराधा के साथ एकत्व प्राप्त गौर स्वरूप में जब वे अवतीर्ण हों, तभी वे अखण्ड प्रेम भण्डार के अधिकारी हो सकते हैं। और तभी वे बिना बिचारे प्रेमदान कर सकते हैं। इसलिये विशेष कलियुग में प्रेमदान की बात व्यासदेव से उन्होंने कही है। (पापहत लोगों के भी प्रेमदान की बात में बिना विचारे आपामर साधारण पर्यन्त प्रेम दान की बात विदित होती है।)

उपपुराण से उद्धृत प्रमाण से विदित हुआ कि विशेष कलियुग में आपामर साधारण को व्रज प्रेम दान करने के निमित्त ही स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं, और उस लीला में वे संन्यास भी ग्रहण करते हैं। "कृष्ण-वर्णं त्विषाकृष्णम्" श्लोक से ज्ञात होता है कि विशेष कलियुग में अपने माधुर्य-आस्वादन के हेतु ही वे गौर-वर्ण में अवतीर्ण होते हैं। अतः यह विदित हुआ कि—अपना माधुर्य आस्वादन ही गौरवर्ण स्वयं भगवान् की निजस्व लीला का कारण है, और अवतीर्ण होकर आपामर-साधारण को व्रज-प्रेमदान ही है, जीव के प्रति उनके अवतार का कारण। प्रेमदान उनका निजस्व हेतु न होने से इसको अवतरण का आनुषङ्गिक अथवा बहिरङ्ग हेतु भी कहा जाता है।

गौरवर्ण स्वयं भगवान् संन्यास ग्रहण करते हैं—यह बात महाभारत से भी विदित होती है। महाभारत के अनुशासन पर्व में विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र में निम्नलिखित उक्ति प्राप्त होती है।

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठाशान्तिपरायणः॥

—'कृष्ण'—इन दो उत्तम वर्णों का वर्णन करने से उनका नाम "सुवर्ण वर्ण" है; स्वर्ण की भांति गौर एवं उज्ज्वल अङ्ग होने से "हेमाङ्ग" साधारण लोगों की अपेक्षा उनके अङ्ग-समूह श्रेष्ठ होने से "वराङ्ग", चन्दन का अंगद धारण करने के कारण "चन्दनाङ्गदी", संन्यास ग्रहण करने के कारण "संन्यास कृत—संन्यासी", भगवन्निष्ठ-बुद्धि होने के कारण "शम", शान्त चित्त होने के कारण "शान्त" है और कृष्ण की भक्ति में निष्ठा एवं निवृत्ति परायण होने के कारण उनका नाम "निष्ठा-शान्ति-परायण" है।

गौरवर्ण स्वयं भगवान् के भक्त-भावत्व का प्रमाण—

श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीला आदि का कीर्त्तन भक्तभाव का परिचायक है। कारण कि भक्त ही कृष्णनामादि कीर्तन करते हैं।

"कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्" इत्यादि श्रीमद्भागवत के श्लोक की आलोचना से विदित हुआ कि "कृष्ण वर्ण" शब्द का एक अर्थ है—कृष्ण का (कृष्ण के नाम-रूप-गुणादि का) जो वर्णन करते हैं—वे कृष्णवर्ण। उसी श्लोक से यह भी जाना जाता है कि—गौरवर्ण स्वयं भगवान् ही कृष्ण का वर्णन करते हैं, इसलिये वे भक्त-भावमय हैं!

महाभारतोक्त "सुवर्ण वर्णो हेमाङ्गः" इत्यादि श्लोक के "सुवर्ण वर्णः" शब्द से भी हेमाङ्ग (गौरवर्ण) भगवान् का भक्त-भावत्व सूचित हो रहा है। इस स्थान पर—"सुवर्ण वर्ण" शब्द से "सुवर्ण (स्वर्ण) की भांति वर्ण"—यह अर्थ नहीं है, क्योंकि "हेमाङ्ग"—शब्द द्वारा ही वह पहले सूचित हो चुका है। सुवर्ण—उत्तमवर्ण, कृष्ण नाम के दो अक्षरों की अपेक्षा उत्तम वर्ण (अक्षर) और कोई नहीं हो सकते हैं। अतः वही 'सुवर्ण' अर्थात् उत्तम वर्ण (अक्षर) हैं—कृष्ण नाम के दो अक्षर कृ+ष्ण—उसका

जो वर्णन करते हैं, वे—सुवर्ण वर्ण भक्त भावमय हैं।

महाभारतोक्त संन्यासकृत्, शमः, शान्तः—प्रभृति शब्द भी हेमाङ्ग (गौरवर्ण भगवान्) का भक्त भावत्व सूचित करते हैं।

पूर्णतम-भक्त भावमयी श्रीराधा के साथ मिलित होने से ही गौरवर्ण स्वयं भगवान् का भक्त-भाव है और भक्त-भाव में ही श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन सम्भव है।

श्रुति में गौर-वर्ण स्वयं-भगवान्

मण्डूकोपनिषद (३-१-३) में रुक्म वर्ण पुरुष के सम्बन्ध में एक वाक्य दृष्टिगोचर होता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

जब कोई सर्वकर्त्ता, सर्वेश्वर, ब्रह्मयोनि, स्वर्ण वर्ण पुरुष का दर्शन करता है, तो तत्क्षण वह प्रेम भक्तिमान् हो जाता है, उसका पुण्य और पाप (समस्त कर्मफल) धुल जाता है, वह निरञ्जन (माया के बन्धन से शून्य) हो जाता है, और उस रुक्मवर्ण पुरुष के साथ परम साम्य को प्राप्त होता है।

इस श्रुति वाक्य में—'पश्यः' शब्द का अर्थ दृष्टा, पश्यति इति पश्यः—(श्रीपाद शङ्कराचार्य), रुक्म का अर्थ-स्वर्ण, रुक्मवर्ण—स्वर्ण वर्ण, गौर-वर्णः। ब्रह्मयोनि—ब्रह्म की भी योनि या मूल, श्रीमद्भगवद् गीता में जो कहा है कि "ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्"—मैं ब्रह्म (निर्विशेष ब्रह्म) की भी प्रतिष्ठा, निदान हूँ, वे—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण निरञ्जनः—माया के अञ्जन से शून्य, पूरी तरह से माया से मुक्त। विद्वान्—विद्यमान-ब्रह्मज्ञ। परब्रह्म श्रीकृष्ण को जानने का एक मात्र उपाय है-भक्ति, **'भक्त्या मामभिजानाति'** —गीता। **भक्त्याहमेकया ग्राह्यः**—श्रीमद्भागवत। इस कारण विद्वान् शब्द का अर्थ हुआ—भक्तिमान्, प्रेम भक्तिमान्।

उद्धृत श्रुति वाक्य में एक स्वर्ण वर्ण या गौर वर्ण भगवत्-स्वरूप का उल्लेख प्राप्त हुआ। यह गौर वर्ण पुरुष है ब्रह्मयोनि—परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, किन्तु उनका वर्ण—बाह्य-कान्ति है—स्वर्ण वर्ण। इस श्रुति-वाक्य से यह भी विदित हुआ कि—इस स्वर्ण-वर्ण पुरुष के दर्शन-मात्र

से ही दृष्टा-जीव प्रेम-भक्ति लाभ करता है, उसके पाप पुण्यादि समस्त कर्म—यहां तक कि उसका असुरत्व भी नष्ट हो जाता है। वह पूरी प्रकार से माया मुक्त हो जाता है और वह स्वर्ण वर्ण पुरुष के साथ परम एकता या साम्य प्राप्त करता है। परम साम्य लाभ से तात्पर्य क्या है?—एक अर्थ तो यह हो सकता है कि—दृष्टा भी स्वर्ण वर्ण पुरुष—परब्रह्म हो जाए। किन्तु यह अर्थ ग्रहणीय नहीं हो सकता। कारण कि अणु चित् जीव कभी भी विभुचित् परब्रह्म नहीं हो सकता। और एक अर्थ हो सकता है—प्रभाव में परम साम्य। स्वर्ण वर्ण पुरुष का जो प्रभाव है—उसके दर्शनमात्र से ही जीव—पापी-जीव भी तत्काल प्रेम-भक्ति प्राप्त करता है। उसी प्रभाव के साथ दृष्टा परम साम्य प्राप्त करता है, अर्थात् उनके दर्शन से दूसरा जीव प्रेम-भक्ति लाभ कर सकता है, पूर्णरूप से माया मुक्त हो सकता है एवं निष्कर्मण्य हो सकता है। यह अर्थ ग्रहण करने से शास्त्र-सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होता है। इसलिये यही अर्थ ग्रहणीय है।

पहले की आलोचना में उपपुराण के प्रमाण द्वारा विदित हुआ कि —स्वयं भगवान् विशेष कलियुग में अवतीर्ण होते हैं—पापहत लोगों को प्रेम-भक्ति दान करने के लिए। और फिर श्रीमद्भागवत के प्रमाण से विदित हुआ कि विशेष कलियुग में वे अवतीर्ण होते हैं "अकृष्ण" या गौरवर्ण में, और उस समय वे साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षद होते हैं। उनके अङ्ग एवं उपाङ्ग ही उनके अस्त्र एवं पार्षदों का कार्य करते हैं—उनकी उद्देश्य सिद्धि—प्रेम-भक्ति दान में सहायता करते हैं। अङ्ग एवं उपाङ्ग के दर्शन में ही, उस गौरवर्ण पुरुष की श्रीमूर्त्ति के दर्शन में ही, यदि कोई प्रेम-भक्ति लाभ करता है तभी यह समझा जायेगा कि उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों ने उनके अस्त्र एवं पार्षद का काम किया। इस प्रकार देखा गया कि श्रीमद्भागवत के "साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद"—शब्द का जो तात्पर्य है, उल्लिखित मण्डूक श्रुति वाक्य के "**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं पुरुषः ····ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय।**" इत्यादि वाक्य का भी वही तात्पर्य है। इस श्रुति-वाक्य के साथ श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों की सङ्गति प्रतीत होती है। अधिकन्तु इस श्रुति-वाक्य के द्वारा कहा गया है कि—इन गौर वर्ण पुरुष के दर्शन से जो प्रेम-भक्ति लाभ करते हैं, उनके दर्शन द्वारा भी वे दूसरे को उसी प्रकार की प्रेम-भक्ति प्राप्त कराते रहते हैं।

शास्त्र वाक्य—आलोचना का सार मर्म

अभी तक जो विविध प्रकार से शास्त्र वाक्यों की आलोचना की गई, उसका सार-मर्म निम्न प्रकार है—

(१) श्रीराधा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी-शक्ति की मूर्त्त-विग्रह हैं, इसलिये वह स्वरूपतः ह्लादिनी हैं।

(२) श्रीराधा और श्रीकृष्ण एकात्मा हैं।

(३) एकात्मा होकर भी श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण अनादि काल से गोलोक में दो रूपों में विराजित हैं—लीला में विलास कर रहे हैं।

(४) दो रूपों में विराजित श्रीराधा और श्रीकृष्ण एकत्व प्राप्त कर गौर-वर्ण स्वयं भगवान् रूप में विराजमान हैं।

(५) श्रीराधा के साथ एकत्व प्राप्तकर, श्रीकृष्ण श्रीराधा की कान्ति एवं भाव (प्रेम) अङ्गीकार कर गौर-वर्ण हुये, तभी वे राधा-भाव-द्युति सुवलित कृष्ण स्वरूप हैं।

(६) गौरवर्ण स्वयं भगवान् भक्त-भावमय हैं।

(७) जिस द्वापर में ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं, उसके ठीक बाद आने वाले कलियुग में (जिसे विशेष कलियुग कहा जाता है उसी कलियुग में) यही गौर-वर्ण श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं।

(८) ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होकर गौर-वर्ण स्वयं भगवान् आपामर साधारण को बिना किसी विचार के प्रेम-भक्ति दान करते हैं।

(९) ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होकर गौरवर्ण भगवान् संन्यास भी ग्रहण करते हैं।

(१०) गौरवर्ण स्वयं भगवान् के दर्शनों से पापी जीवों को भी प्रेम-भक्ति प्राप्त होती है।

(११) गौरवर्ण भगवान् के दर्शनों से जो प्रेम-भक्ति प्राप्त करते हैं, उनके दर्शन से भी दूसरे लोग उसी प्रकार की प्रेम-भक्ति प्राप्त करते हैं।

(१२) उन गौरवर्ण स्वयं भगवान् का निजी स्वरूपगत कार्य—श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन करना है। जब वे ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं तब वे प्रेम-भक्ति भी दान करते हैं।

(१३) वही गौर-वर्ण स्वयं भगवान् वर्त्तमान कलियुग में होंगे, ऐसा गत द्वापर में ही करभाजन ऋषि कह गये हैं।

इस प्रकार यह विदित हुआ कि "राधाकृष्ण प्रणय विकृति" इत्यादि श्लोक में श्रीपाद स्वरूपदामोदर के "राधाभाव-द्युति-सुवलित-कृष्ण स्वरूप या राधा भावाविष्ट गौरवर्ण स्वयं भगवान्" के सम्बन्ध में जो कहा है, वह पूर्ण रूपेण शास्त्र-सम्मत है। शास्त्रों से विरुद्ध उन्होंने कोई भी बात नहीं कही है।

श्रीपाद स्वरूपदामोदर ने और भी कहा है कि—वही गौरवर्ण स्वयं भगवान् वर्त्तमान कलियुग में अवतीर्ण हुए एवं श्रीचैतन्यदेव ही वह गौरवर्ण स्वयं भगवान् हैं।

अब यह विचार कर देखना होगा कि श्रीचैतन्यदेव ही क्या शास्त्र प्रसिद्ध गौरवर्ण स्वयं भगवान् हैं।

—✱—

शचीनन्दन के गौरवर्ण एवं स्वयं भगवत्ता का विचार

परब्रह्म श्रीकृष्ण नराकृति और द्विभुज हैं। **"यत्रावतीर्ण कृष्णाख्यं परब्रह्म नराकृतिम्**—(विष्णु पुराण ४-११-२)

सत्पुण्डरीक नयन मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञान मुद्राख्यं वनमालिनमीश्वरम्॥

गोपाल तापनी श्रुति, पूर्व तापनी २/१

वे कमलनयन, नवजलधर वर्ण, पीत वसन, द्विभुज, ज्ञान मुद्राढ्य, वनमाली और ईश्वर हैं। गौरवर्ण में भी वे नराकृति, द्विभुज हैं; अन्तर केवल वर्ण और भाव का है। दोनों स्वरूपों की लीला भी नर-लीला है। वे अप्रकट में भी नरवपु हैं और नरलीला करते हैं तथा प्रकटरूप में भी नरवपु हैं और नरलीला करते हैं। जब वे ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं तब नरलीला की सिद्धि के लिए जन्मलीला का अभिनय करते ही अवतीर्ण हुआ करते हैं। इसे अभिनय इसलिये कहा गया कि स्वरूपतः उनका जन्म नहीं है, हो भी नहीं सकता; क्योंकि वे अज, नित्य और अनादि हैं। तो फिर किस प्रकार जन्मलीला का अभिनय करते हैं—श्रीकृष्ण को उपलक्ष करके उसे कहते हैं।

श्रीकृष्ण अज एवं अनादि हैं, वास्तव में उनका कोई भी जन्मदाता पिता या गर्भधारिणी माता नहीं है, और हो भी नहीं सकती हैं। किन्तु वे रसस्वरूप होने के कारण जो सब रस आस्वादन करते हैं—उनमें एक है वात्सल्य रस। पिता-माता ही वात्सल्य रस के मुख्य आश्रय हैं। उनके नित्यसिद्ध अनादि परिकर वर्ग में दो व्यक्ति हैं—श्रीनन्द एवं श्रीयशोदा, जो यह समझते हैं कि श्रीकृष्ण उनकी सन्तान हैं। यह उनका दृढ़ विश्वास है। उनके वात्सल्य के प्रभाव से श्रीकृष्ण को भी दृढ़ विश्वास है कि वह नन्द-यशोदा की सन्तान हैं। नन्द-यशोदा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध केवल दृढ़ विश्वास-जात है, जन्मगत नहीं। श्रीकृष्ण जब ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं, तब वे अपने परिकर वर्ग के साथ ही अवतीर्ण होते हैं। पहले वे पिता-माता नन्द-यशोदा को अवतरित करते हैं, इसके बाद उनके संयोग से वे स्वयं अवतीर्ण होते हैं। पिता-माता के शुक्र-शोणित से जैसे मनुष्य का जन्म होता है, श्रीकृष्ण का जन्म वैसे नहीं है। पहले वे पिता के हृदय में ज्योति अथवा आनन्द रूप में आविर्भूत होते हैं, यही ज्योति या आनन्द तब माता के हृदय में संचारित होता है। तभी से माता के देह में प्राकृत गर्भवती नारी के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। यथा समय वह माता के देह से नव शिशु की आकृति में अपने को प्रगट करते हैं। लोग समझते हैं कि जैसे प्राकृत नर शिशु का जन्म होता है, उसी प्रकार उनका भी जन्म हुआ है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। **"जन्म कर्म च मे दिव्यम्"** इत्यादि गीता-वाक्य में अर्जुन से श्रीकृष्ण ने भी यह कहा है। श्रीकृष्ण के गौर-वर्ण स्वरूप का आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ है। जो भी हो, नर-शिशु के रूप में अवतीर्ण हुआ जानकर, जो भगवान् के तत्वादि से अवगत नहीं हैं, वे स्वयं भगवान् को भी साधारण मनुष्य ही समझते हैं। यह बात स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही है।

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ गीता ९/११

इस अवस्था में मनुष्यों के बीच अवतीर्ण भगवान् को पहचानना कोई सहज बात नहीं है। केवल अलौकिक शक्ति के द्वारा श्रीभगवत्-स्वरूप का निर्णय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि किसी-किसी जीव-तत्व साधक

महापुरुष में भी भगवत्-कृपा से कुछ-कुछ अलौकिक शक्ति दृष्टिगोचर होती है।

श्रीपाद सनातन गोस्वामी ने श्रीमन्महाप्रभु से जिज्ञासा की थी—प्रभो! **"केमने जानिब-कलिते कोन् अवतार"**—(श्री चै० च० २-२०-२६१) "प्रभो! कैसे ज्ञात हो कि कलियुग में कौन अवतार हैं?" तब महाप्रभु ने उनसे कहा था—

अन्यावतार यैछे शास्त्र द्वारे जानि।
कलि अवतार तैछे शास्त्र वाक्ये मानि॥
सर्वज्ञ मुनिर वाक्य शास्त्र परमाण।
आमा सभा जीवेर हय शास्त्र द्वारा ज्ञान॥
अवतार नाहि कहे—"आमि अवतार"।
मुनि सब जानि करे लक्षण विचार॥
स्वरूप लक्षण आर तटस्थ लक्षण।
एई दुई लक्षणे वस्तु जाने मुनीगण॥
आकृति प्रकृति एई स्वरूप लक्षण।
कार्य द्वारा ज्ञान एई तटस्थ लक्षण॥
श्री चै० च० २. २०. २६२ से ६६

जो ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं, साधारणतः वे स्वयं नहीं कहते हैं कि वे भगवतावतार हैं। जो भगवत्-स्वरूप ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं, उनका शास्त्र में उल्लेख होता है। किस युग में वे अवतीर्ण होंगे, वह भी शास्त्र में लिखा रहता है। शास्त्रों की उक्ति के साथ लक्षणादि मिलाकर ही विज्ञ व्यक्तिगण भगवतावतार का निर्णय करते हैं।

इस प्रसङ्ग में एक बात और जानने योग्य है। कोई एक भगवत्-स्वरूप एक युग में एक बार ही अवतीर्ण होते हैं, एक बार से अधिक बार अवतीर्ण होने की बात शास्त्रों में नहीं मिलती है। स्वयं भगवान् एक कल्प में (ब्रह्मा के एक दिन में) एक बार ही अवतीर्ण होते हैं। युगावतार अवश्य प्रत्येक युग में ही अवतीर्ण होते हैं। —वह भी केवल एक बार। जिस युग में स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं उस युग में युगावतार स्वयं भगवान् में ही स्थित रहते हैं। वह स्वतन्त्र भाव से स्वयं भगवान् के अवतरण के समय भी अवतीर्ण नहीं होते हैं, और स्वयं भगवान् के अन्तर्धान

के बाद भी उस युग में अवतीर्ण नहीं होते हैं। जो भी हो, श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव १४०७ शकाब्द में श्रीश्रीशची-जगन्नाथ मिश्र के योग से नवद्वीप में अवतीर्ण हुए थे। वह ही शास्त्रोक्त "राधाभाव-द्युति-सुवलित कृष्ण स्वरूप" हैं या नहीं, गौरवर्ण स्वयं भगवान् हैं या नहीं, राधाकृष्ण मिलित स्वरूप हैं या नहीं—यही विवेच्य है। पूर्वोद्धृत शास्त्र वचनों से गौरवर्ण स्वयं भगवान् के जो समस्त लक्षण विदित हुए हैं वे सब लक्षण यदि श्रीचैतन्यदेव में विद्यमान हों, तो उनको शास्त्र कथित भगवत्-स्वरूप कह कर ही स्वीकार किया जायेगा, अन्यथा नहीं। अब इस सम्बन्ध में ही आलोचना करते हैं।

---

(१) दैहिक-लक्षण

श्रीभगवान् में, जन्मलीला ग्रहण करते हुए मनुष्यों में अवतीर्ण होने पर भी अनेक शारीरिक लक्षणों से साधारण मनुष्यों की अपेक्षा विशेषता रही है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव की भी यही विशेषता थी।

साधारण मनुष्य के शरीर की लम्बाई उसके साढ़े तीन हाथ हुआ करती है। चौड़ाई में दोनों हाथ फैलाने पर एक हाथ की मध्यम अंगुली के अग्रभाग से लेकर दूसरे हाथ की मध्यम अंगुली के अग्रभाग पर्यन्त वह अपने साढ़े तीन हाथ ही होता है। वर्त्तमान कल्प के ब्रह्मा भी अपने हाथों से साढ़े तीन हाथ अर्थात् सात बालिश्त भर हैं, यह बात श्रीमद्भागवत की ब्रह्म-स्तुति में स्वयं ब्रह्मा जी ने ही कही है—**'सप्तवितस्तिकायः'** (१०-१४-११)। जगत् में कोई-कोई आदमी चार हाथ (६ फुट) लम्बा भी देखा जाता है; किन्तु नाप में चार हाथ होते हुए भी अपने हाथों से उसकी लम्बाई साढ़े तीन हाथ ही हुआ करती है। किन्तु श्रीभगवान् ऐसे नहीं होते। श्रीमद्-भागवत (१०-१४-११) श्लोक की वैष्णव-तोषणी टीका में कहा गया है कि श्रीभगवान् का विग्रह साढ़े चार हाथ हुआ करता है। शास्त्र में कहीं-कहीं चार हाथ का भी वर्णन मिलता है। इसलिये, जो भगवत्-स्वरूप ब्रह्माण्ड में मनुष्यों के बीच अवतीर्ण होते हैं, मनुष्य की भांति द्विभुज होते हुए भी उनका विग्रह मनुष्य-देह की तरह साढ़े तीन हाथ नहीं होता, वह होता है चार या साढ़े चार हाथ।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का विग्रह भी लम्बाई में अपने हाथों से चार हाथ लम्बा था।

दैर्घ्य-विस्तारे येइ आपनार हाथे।
चारिहस्त हय महापुरुष विख्याते॥
'न्यग्रोधपरिमण्डल' हय तार नाम।
न्यग्रोधपरिमण्डल-तनु चैतन्य गुणधाम॥

श्री चै० च० १. ३. ३३-३४

यहां 'महापुरुष'—शब्द से पुरुषोत्तम भगवान् का ही अभिप्राय है। श्रीमद्भागवत १०-४०-४ श्लोक में अक्रूर के वचनों द्वारा श्रीकृष्ण को ही महापुरुष कहा गया है—**'महापुरुषमीश्वरम्'** और **'ध्येयं सदा परिभवघ्न-मित्यादि'** श्रीभागवत ११ ५-३३ श्लोक में एवं अन्यान्य स्थानों पर भी श्रीभगवान् को 'महापुरुष' कहा गया है।

हस्त-पाद के चिह्नादिक में भी मनुष्य की अपेक्षा भगवत्-स्वरूपों का वैशिष्ट्य रहता है। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का भी यह वैशिष्ट्य विद्यमान था। उनके चरणों में **'शोभे ध्वज वज्र शङ्ख चक्र मीन।'** (श्री चै० च० १-१४-५) ये सब चिह्न किसी भी मनुष्य के पांवों में नहीं होते हैं। शिशु श्रीचैतन्यदेव के कर-पद चिह्नों को देखकर उनके नाना श्री नीलाम्बर चक्रवर्ती ने कहा था—

नारायणेर चिह्न-युक्त श्रीहस्त-चरण।
एइ शिशु सब लोकेर करिबे तारण॥

श्री चै० च० १. १४. १३

उल्लिखित लक्षणों से जाना जाता है कि श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव जीव-तत्व नहीं थे, वे थे ईश्वर-तत्व, भगवत्-स्वरूप। किन्तु ईश्वर-तत्व होने पर कोई भगवत्-स्वरूप स्वयं भगवान् ही होगा—ऐसा नहीं है। स्वयं भगवान् के ऐसे कुछ लक्षण हुआ करते हैं, जो अन्य किसी भी भगवत्-स्वरूप में नहीं होते। उन समस्त विशेष लक्षणों में से कोई एक लक्षण किसी भगवत्-स्वरूप में देखने पर यह समझ लेना चाहिये कि वे स्वयं भगवान् हैं। श्रीचैतन्यदेव में स्वयं भगवान् का कोई विशेष लक्षण विद्यमान है कि नहीं, यह बात अब देखनी होगी।

(२) श्रीचैतन्यदेव में स्वयं भगवत्ता-लक्षण

यह पहले कहा जा चुका है कि वस्तु का परिचय होता है विशेष लक्षण द्वारा, साधारण लक्षण से नहीं। स्वय भगवान् के भी कई एक विशेष लक्षण हैं, जो और किसी भी भगवत्-स्वरूप में नहीं होते। उन समस्त लक्षणों से ही स्वयं भगवान् का परिचय मिलता है। समस्त विशेष लक्षण हर समय प्रकटित नहीं हुआ करते और न ही उनको लक्ष्य किया जा सकता है। दो-एक विशेष लक्षण देखने पर भी स्वयं भगवान् का परिचय हो सकता है, क्योंकि उस प्रकार के दो-एक लक्षण भी स्वयं भगवान् को छोड़कर और किसी भगवत्-स्वरूप में नहीं होते।

(क) स्वयं भगवान् का एक विशेष लक्षण यह है कि उनमें अन्यान्य समस्त भगवत्-स्वरूप अवस्थान करते हैं, कारण कि **'एकः स कृष्णो निखिलावतार-समष्टिरूपः'** (वृहद् भागवतामृत २-४-१८६)—स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निखिल अवतारों के समष्टि रूप हैं। लघु भागवतामृत के श्रीकृष्णामृत से इस प्रकार ज्ञात होता है कि—

स्युर्महान्तोऽतिपरम-महत्तमतया स्मृताः।
ते परव्योमनाथश्च व्यूहाश्च वसुसंख्यकाः॥
वासुदेवादयो व्यूहाः परव्योमेश्वरस्य ये।
तेभ्योऽप्युत्कर्षभाजोऽमी कृष्णव्यूहाः सतां मताः॥
इत्येते परव्योमनाथव्यूहैः सहैकताम्।
स्वविलासैरिहाभ्येत्य प्रादुर्भावमुपागताः॥
अंशास्तस्यावतारा ये प्रसिद्धाः पुरुषादयः।
तथा श्रीजानकीनाथ-नृसिंह-क्रोड़-वामनाः॥
नारायणो नरसखो हयशीर्षाजितादयः।
एभिर्युक्तः सदा योगमवाप्ययमवस्थितः॥

श्रीकृष्णामृतम् ३६८-७२

—परव्योमाधिपति नारायण, द्वारका चतुर्व्यूह (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध), परव्योम चतुर्व्यूह (परव्योमस्थ वासुदेवादि), पुरुषादि अंशावतार, श्रीराम, नृसिंह, वराह, वामन, नर-नारायण, हयग्रीव एवं अजितादि—ये सब ही सदा श्रीकृष्ण के साथ युक्त रहते हैं। इनके साथ मिलित होकर श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुआ करते हैं।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने भी यही कहा है—

पूर्ण भगवान् अवतरे येइ काले।
आर सब अवतार ताते आसि मिले॥
नारायण चतुर्व्यूह मत्स्याद्यवतार।
युग-मन्वन्तरावतार यत आछे आर॥
सभे आसि कृष्ण-अंगे हय अवतीर्ण।
ऐछे अवतरे कृष्ण भगवान् पूर्ण॥

श्री चै० च० १. ४. ६-११

शचीनन्दन श्रीमन्महाप्रभु में स्वयं भगवत्ता का यह विशेष लक्षण विद्यमान था, उसे उन्होंने अनेक स्थानों पर दिखाया है। जब वे अभी छोटे शिशु थे, तब एक दिन तीर्थ-भ्रमण करते हुए एक तैर्थिक ब्राह्मण नवद्वीप में आकर श्रीजगन्नाथ मिश्र के घर अतिथि बना था। रात्रिकाल में मिश्रजी ने उनकी रसोई की जोगार करदी। रसोई कर वह ब्राह्मण अपने इष्टदेव श्रीबाल-गोपाल को भोग निवेदन का ध्यान करने लगा। उस समय वह क्या देखता है कि—

सन्मुखे आइला प्रभु श्रीगौरसुन्दर।
धूलामय सर्व अङ्ग मूर्त्ति दिगम्बर॥
अरुण नयन कर चरण सुन्दर,
हासिया विप्रेर अन्न लइया श्रीकरे।
एक ग्रास खाइलेन देखे विप्रवरे॥

श्री चै० भागवत १ अध्याय ३

—श्रीगौर-सुन्दर प्रभु सन्मुख विद्यमान हैं, उनके समस्त अङ्ग धूल-धूसरित हो रहे हैं एवं उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है। उनके नेत्र, कर-चरण अति सुन्दर लाल-कमल की भांति शोभित हो रहे हैं। मुसकराते हुए उन्होंने उस भोग को अपने हाथ में ले लिया और एक ग्रास क. खा लिया।

यह देखकर 'भोग नष्ट हो गया'—ऐसा सोच कर वह ब्राह्मण 'हाय-हाय' कर उत्तेजित हो उठा। श्री जगन्नाथ मिश्र ने आकर देखा कि निमाई ब्राह्मण के निवेदित भोग को खा रहा है एवं मुस्करा रहा है। क्रोध में भरकर वे निमाई की ताड़ना करना चाहते थे, परन्तु उस ब्राह्मण ने उन्हें

रोक लिया। मिश्र जी की प्रार्थना पर उस ब्राह्मण ने दुबारा रसोई करना आरम्भ किया। ब्राह्मण रसोई कर रहा था, उस समय श्रीबाल-निमाई को पड़ौसी के घर ले जाया गया। रसोई तैयार हो जाने पर ब्राह्मण पुनः भोग निवेदन कर श्रीबाल-गोपाल का ध्यान करने लगा। उस समय—

मोहिया सकल लोक अति अलक्षिते।
आइलेन विप्रस्थाने हासिते हासिते॥
अलक्षिते एक मुष्टि अन्न लइ करे।
खाइया चलिला प्रभु-देखे विप्रवरे॥

श्री चै० भागवत १ अध्याय ३

—श्रीबाल-निमाई ने सब लोगों को मोहित कर दिया और अलक्षित भाव से विप्र के पास हँसते-हँसते आ पहुँचे। चुपचाप एक मुट्ठी भोग लेकर उन्होंने खा लिया और वहां से चलने लगे। —ब्राह्मण यह देखकर 'हाय-हाय' करते हुए उठ खड़ा हुआ। श्रीबाल-निमाई वहां से भाग गये। अब तो श्री जगन्नाथ मिश्र क्रोधित हो हाथ में लाठी लेकर निमाई को मारने के लिए उस के पीछे भागे। निमाई भागकर एक घर में घुस गए। दो बार भोग नष्ट हो चुका था, अतिथि ब्राह्मण कुछ भोजन न कर सका—यह देखकर सब ही दुखित हुए। ब्राह्मण ने कहा—"मैं तीर्थों में भ्रमण करता रहता हूँ, सब दिन तो भोजन नहीं मिल पाता। आज भी भगवान् ने मेरे भाग्य में भोजन नहीं लिखा हैं, इसलिए आप कोई भी दुःख न मानें। घर में जो कुछ फल-फूल रखा हो, वही ले आइये, मैं उसे ही खा लूँगा।" इसी समय श्री निमाई के बड़े भाई विश्वरूप वहां आ पहुँचे। उनके सौन्दर्य को देखकर वह ब्राह्मण मुग्ध-चित्त हो उठा और पूछने पर उसने जान लिया कि वे श्री जगन्नाथ मिश्र के बड़े पुत्र हैं। श्रीविश्वरूप के अतिशय अनुनय विनय करने पर ब्राह्मण तीसरी बार रसोई करने में राजी हो गया। चञ्चल-निमाई को घर में बांध कर रखा हुआ था और श्री मिश्र जी उस घर के दरवाजे पर बैठे हुए थे। रसोई बन जाने पर ब्राह्मण ने भोग निवेदन किया एवं ध्यान करने लगा। उस समय एक अद्भुत घटना घटी। जिस घर में बाल-निमाई आबद्ध थे, उस घर के सभी लोग यहां तक कि दरवाजे पर बैठे हुए श्री मिश्र जी भी गहरी नींद में सो गए। और—

ये स्थाने करेन विप्र अन्न निवेदन।
आइलेन सेइ-स्थाने श्रीशचीनन्दन॥
बालक देखिया विप्र करे 'हाय-हाय'।
सभे निद्रा जाए, केहो सुनिते ना पाय॥
प्रभु बोले—अये विप्र! तुमि त उदार,
तुमि आमा डाकि आन, कि दोष आमार॥
मोर मन्त्र जपि मोरे करह आह्वान।
रहिते न पारि आमि, आसि तोमा स्थान॥
आमारे देखिते निरवधि भाव तुमि।
अतएव तोमारे दिलाम देखा आमि॥'

—'जहां वह ब्राह्मण भोग निवेदन कर रहा था, श्रीनिमाई वहां आ पहुँचे। बालक को देखकर ब्राह्मण 'हाय-हाय, सर्वनाश'—कहकर चिल्लाने लगा। वहां तो सब नींद में पड़े हुए थे, कोई भी उसकी आवाज नहीं सुन पाया। तब श्रीशचीनन्दन बोले—"अरे ब्राह्मण! तुम तो बड़े उदार हो, तुम ही तो मुझे बुलाते हो, इसमें मेरा क्या दोष है? मेरा मन्त्र जप कर मेरा आह्वान करते हो, जिससे मैं रह नहीं सकता और तुम्हारे पास आ जाता हूँ। तुम्हारे मन में निरन्तर मेरे दर्शनों की भावना रहती है, इसलिए मैंने तुम्हें आज दर्शन दिए हैं।'

सेइ क्षणे देखे विप्र परम अद्भुत।
शङ्ख, शक्र, गदा, पद्म, अष्टभुज रूप॥
एक हस्ते नवनीत, आर हस्ते खाय।
आर दुइ हस्ते प्रभु मुरली बाजाये॥
श्रीवत्स कौस्तुभ वक्षे शोभे मणिहार।
सर्व अङ्गे देखे रत्नमय अलङ्कार॥
नवगुञ्जा वेढ़ा शिखिपुच्छ शोभे शिरे।
चन्द्रमुखे अरुण अधर शोभा करे॥
हासिया दोलाय दुइ नयन-कमल।
वैजयन्ती माला दोले मकर कुंडल॥
चरणारविन्दे शोभे श्रीरत्न नूपुर।
नखमणि-किरण तिमिर गेल दूर॥

अपूर्व कदम्ब वृअ देखे सेइ खाने।
वृन्दावन देखे नाद करे पक्षिगणे॥
गोप-गोपी गावीगण चतुर्दिगे देखे।
यत ध्यान करे, ताइ देखे परतेखे॥
अपूर्व सौन्दर्य देखि सुकृति ब्राह्मण।
आनन्दे मूर्छित हैया पड़िला तखन॥

श्री चै० भागवत आदि, ३ अध्याय

—इतने में उस ब्राह्मण ने एक परमाश्चर्य देखा कि श्रीशचीनन्दन अष्टभुजाधारी रूप में उसके सामने खड़े हैं। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण कर रहे हैं एवं एक हाथ में माखन लेकर दूसरे हाथ से खा रहे हैं, दूसरे दो हाथों से प्रभु वंशी बजा रहे हैं। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न, कौस्तुभमणि एवं अनेक मणियों के हार शोभित हैं। सर्व अङ्गों पर वे रत्नमय भूषणों को धारण कर रहे हैं। नवीन गुञ्जाओं का गुच्छा एवं मोरपुच्छ उनके शिर पर सुशोभित है तथा चन्द्र के समान मुख पर लाल-लाल अधरों की अद्भुत शोभा है। मुस्कराते हुए वे अपने दोनों नेत्र-कमलों को चला रहे हैं। वैजयन्ती माला तथा मकराकृति कुण्डल डोलायमान हो रहे हैं। उनके चरण-कमलों में मणिमय नूपुर विराजित हैं एवं नखमणि की किरणों ने समस्त अन्धकार विदूरित कर दिया है। ब्राह्मण ने वहां ही एक अपूर्व कदम्ब वृक्ष को देखा और श्रीवृन्दावन के दर्शन किए जिस में पक्षिगण कलरव कर रहे थे। चारों ओर उसने गोप-गोपी एवं गौओं के दर्शन किए। जैसा कि उसने ध्यान किया था, वैसा ही सब कुछ वहां उसने प्रत्यक्ष देखा। इस प्रकार अपूर्व सौन्दर्य को देखकर वह महा पुण्यशाला ब्राह्मण वह आनन्द में विभोर होकर मूर्छित हो गया।

तब श्रीशचीनन्दन ने उसे अपने हस्त-कमल का स्पर्श किया, जिससे उसे चेतना हुई, किन्तु मुख से वह कुछ भी बोल न सका। बार-बार मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिरा ही जा रहा था। नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे थे एवं शरीर पुलकित हो रहा था। प्रभु के चरण-कमल पकड़कर वह ब्राह्मण उच्चस्वर में रोने लगा। उसकी आर्त्त दशा देखकर प्रभु हँसते हुए बोले—'विप्रवर! तुम अनेक जन्म से मेरी सेवा करते चले आ रहे हो। मैं जब द्वापर में श्रीनन्द महाराज के घर अवतीर्ण हुआ था, उस समय भी तुम

तीर्थ भ्रमण करते-करते नन्द भवन में आये थे एवं मुझे तुमने भोग निवेदन किया था तथा उस समय भी मैं ने तुम्हारे भोग को ग्रहण कर तुम्हें यही रूप दिखलाया था।

इस प्रकार श्रीशचीनन्दन ने तैर्थिक ब्राह्मण को जो स्वरूप दिखलाया इसके अतिरिक्त अनेक भक्तों को उन्होंने अनेक भगवत्-स्वरूपों के दर्शन कराये। संन्यास ग्रहण करने से पहले ही उन्होंने अपने शरीर में श्रीराम-सीता-लक्ष्मण (श्री चै० भा० मध्य/१०) मत्स्य-कूर्म-नृसिंह-वामन-बुद्ध-कल्कि एवं श्रीकृष्ण (श्री चै० भा० मध्य/२५ एवं ८) श्रीनारायण (श्री चै० भा० मध्य/२) वराह (श्री चै० भा० मध्य/३) विश्वरूप (श्री चै० भा० मध्य/६) श्रीशिव (श्री चै० भा० मध्य/८) श्रीबलराम (श्री चै० चरितामृत १/१७/१०९-११३) लक्ष्मी-रुक्मिणी-भगवती (श्री चै० भा० मध्य/८) आदि अनेक भगवत्स्वरूपों के रूप में दर्शन दिये। नवद्वीप में श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु को तथा संन्यास के बाद नीलाचल में श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को एवं राजा प्रतापरुद्र को श्रीमन्महाप्रभु ने षड़भुज रूप दिखलाया। गोदावरी के तीर पर श्री रामानन्दराय ने भी श्रीमहाप्रभु के संन्यासरूप में श्रीश्रीराधाकृष्ण के रूप-दर्शन किए थे।

(ख) स्वयं-भगवत्ता का और एक विशेष लक्षण होता है प्रेमदातृत्व।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही अनन्त भगवत्-स्वरूपों के रूप में अनादि काल से विराजित हैं। प्रत्येक भगवत्-स्वरूप जीवों के पक्ष में मङ्गलप्रद है, किन्तु स्वयं श्रीकृष्ण के बिना और कोई भी भगवत्-स्वरूप प्रेमदान करने में समर्थ नहीं है। श्रीकृष्ण केवल मनुष्यों के प्रति ही प्रेमदान कर सकते हों, यह बात नहीं है, वे लता-गुल्मादिक-स्थावर-जङ्गम समस्त के प्रति ही प्रेमदान करने में समर्थ हैं—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥

लघुभागवतामृत, पूर्वखण्ड ५. ३७

भगवान् पुष्करनाभ के अनन्त अवतार हैं और वे सब सर्वभाव से जीवों का मङ्गल करने वाले हैं, किन्तु चैतन्य जीवों की तो बात ही क्या, जड़ लतादिकों को भी प्रेमदान श्रीकृष्ण के बिना और कौन कर सकता है? —अर्थात् और कोई भगवत्-स्वरूप नहीं कर सकता।

स्वयं भगवत्ता का यह लक्षण भी श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव में अति समुज्ज्वल रूप से वर्त्तमान है। 'प्रेमदाता'—नाम से तो वे विशेष प्रसिद्ध हैं। श्रीपाद रूपगोस्वामी ने प्रभु की इस प्रकार वन्दना की है—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्नि गौरत्विषे नमः॥

—श्रीकृष्णचैतन्य नामक गौर कान्ति विशिष्ट श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ, जो कृष्ण-प्रेम प्रदान करने में महावदान्य—परम उदार हैं।

साधन-भजन की अपेक्षा न रखकर, पात्र-अपात्र का विचार न कर श्रीमन्महाप्रभु ने आपामर साधारण को, यहां तक कि महान् पापियों तक को प्रेमदान किया है। श्रीप्रभु के इसी गुण को लक्ष्य करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने उन्हें भक्ति कल्पतरु रूप में एवं भक्ति कल्पतरु के रक्षकरूप में तथा पोषक मालाकार के रूप में भी वर्णन किया है। उनके कृपाजल से सिञ्चित होकर भक्ति कल्पतरु के सर्वाङ्ग में ही कृष्ण-प्रेमरूपी फल उदित हो उठता है और वे उसी कृष्ण-प्रेमरूपी फल का वितरण करते हैं।

श्रीचैतन्य-मालाकार पृथ्वीते आनि।
भक्तिकल्पतरु रोपिला सिञ्चि इच्छा पानि॥

× × ×

उडुम्बर वृक्षे यैछे फले सर्व-अङ्गे।
एइ मत भक्ति वृक्षे सर्व फल लागे॥

× × ×

पाकिल ये प्रेमफल अमृत मधुर।
विलाय चैतन्यमाली नाहि लय मूल॥
त्रिजगते यत आछे धन रत्नमणि।
एक फलेर मूल्य करि ताहा नाहि गणि॥
मागे वा ना मागे केहो, पात्र वा अपात्र।
इहार विचार नाहि, जाने 'दिव' मात्र॥

अञ्जलि अञ्जलि भरि फेले चतुर्दिशे।
दरिद्र कूडाये खाय मालाकार हासे॥

श्री चै० च० १/९/७, २३, २५-२८

—श्रीचैतन्यदेव मालाकार ने भक्ति-कल्पतरु को पृथ्वी पर लाकर बोया एवं उस इच्छा रूपी जल से सींचा। × × × उडुम्बर (अंजीर) के वृक्ष के सर्व अङ्गों में जैसे फल लगता है। उसी प्रकार भक्ति-कल्पतरु के सर्व अङ्गों में फल लगा, अर्थात् श्रीमहाप्रभु से लेकर उनके पार्षदगण, पार्षदों के दास, उनके शिष्यानुशिष्य सबमें ही भक्तिवृक्ष का प्रेम-फल लगा—उन्होंने उस फल को प्राप्त किया एवं दूसरों को वितरण करने की योग्यता प्राप्त की। × × × अमृत के समान उस प्रेम-फल के पक जाने पर श्रीचैतन्य-देव ने बिना मूल्य लुटा दिया। त्रिभुवन में जितना रत्न-मणि-धन है, वह एक फल के मूल्य के समान भी नहीं हो सकता। ऐसे सुदुर्लभ प्रेम-फल को किसी ने मांगा, या नहीं मांगा, कोई उसका अधिकारी था या नहीं था, इस बात का कुछ भी विचार न कर उन्होंने सबको लुटा दिया। केवल देना मात्र ही वे जानते हैं। उन्होंने उस प्रेमफल को अञ्जलि में भर-भरकर चारों ओर फेंका, दरिद्र अर्थात् भजन साधन हीन लोगों ने भी उसे चुन-चुन कर खाया, जिसे देखकर श्रीचैतन्य-मालाकार अतिशय आनन्दित हुए।

कल्पतरु के पास जाकर जो कुछ मांगा जाए, केवल मात्र वही ही प्राप्त होता है। जो वस्तु मांगी नहीं जाए, वह प्राप्त नहीं होती हैं। किन्तु श्रीचैतन्यदेव तो एक अद्भुत कल्पतरु हैं। 'मांगा चाहे नहीं मांगा'—उन्होंने सबको ही प्रेम प्रदान किया। जो प्रेम ब्रह्मादिक के लिए भी दुर्लभ है, जिस प्रेम के लिये लुब्ध होकर प्रेम-प्राप्ति हेतु-स्वरूप गोकुलवासी भगवत्-परिकरों की चरण-धूलि द्वारा अभिषिक्त होने के लिए स्वयं ब्रह्मा ने भी सत्यलोक को त्यागकर गोकुल के वन में तृण-गुल्मादि किसी भी एक योनि में जन्म ग्रहण करने की प्रार्थना की है—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकम्। इत्यादि श्री भा० १०-१४-३४। अर्थात् हे नन्दनन्दन! इस ब्रज भूमि—गोकुल के किसी एक वन में गुल्म-लतादि किसी भी योनि में मेरा जन्म हो जाए तो मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात होगी। क्योंकि यहां

जन्म हो जाने से आपके किसी न किसी भक्त की चरण-धूलि से मैं अभिषिक्त हो जाऊँगा। इत्यादि ॥

संन्यास से पहले नवद्वीप में रहते समय श्रीमहाप्रभु ने जगाई-माधाई, श्रीवास पण्डित के वस्त्र सीने वाले यवन दरजी, श्रीवास पण्डित की चार वर्ष की भतीजी नारायणीदेवी आदिक अनेक लोगों को कृष्ण-प्रेम प्रदान कर उन्मत्त कर दिया। संन्यास के बाद वृन्दावन जाने के रास्ते में झारिखण्ड के भील-जातीय लोगों को कृष्ण-प्रेम प्रदान कर उन्होंने कृतार्थ कर दिया। झारिखण्ड की वृक्षलता, पशु-पक्षी—स्थावर जङ्गम सबको उन्होंने नाम-प्रेम प्रदान कर धन्य कर दिया। श्रीप्रभु के मुख से श्रीकृष्ण-नाम सुन कर झारिखण्ड के व्याघ्र-मृग-हाथी आदि भी कृष्ण-प्रेम में नाच उठे थे, उनके मुख से भी श्रीकृष्ण स्फुरित होने लगा था। "स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जो लतादिकों को भी प्रेमदान करते हैं", झारिखण्ड के रास्ते में प्रभु ने वह बात दिखा दी। दक्षिण एवं पश्चिम भारत में भ्रमण करते समय श्रीकृष्ण-नाम का उपदेश कर प्रभु ने असंख्य लोगों को प्रेम में प्लावित किया, यहां तक कि प्रभु के दर्शन मात्र से ही लोग कृष्ण-प्रेम प्राप्त कर बाहरी सुध-बुध को भूल कर अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्विक विकारों से विभूषित हो 'कृष्ण-कृष्ण' उच्चारण करते हुए हँसने, रोने, नाचने एवं गाने लग जाते थे। और एक अद्भुत बात यह हुई कि प्रभु के दर्शन कर जिन लोगों की उपर्युक्त अवस्था होती थी, उन लोगों के दर्शन कर अन्यान्य लोगों की भी वही अवस्था हो जाती और इसी प्रकार उनके दर्शन कर और लोग भी उसी अवस्था में हो जाते। इस प्रकार प्रभु ने मण्डुक-श्रुति के—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुदैति ॥

—इस वाक्य की सत्यता को समुज्ज्वल-भाव से प्रकट कर दिया।

उल्लिखित स्वयं भगवत्ता के दोनों विशेष लक्षण निःसन्देह भाव से प्रमाणित करते हैं कि शचीनन्दन श्रीकृष्णचैतन्यदेव स्वयं भगवान् ही हैं।

शास्त्रों में कहे हुए अन्यान्य लक्षण भी श्रीमन्महाप्रभु में विद्यमान थे, अब उनका दिग्दर्शन कराते हैं।

(३) शास्त्र-कथित अन्यान्य लक्षण

कलियुग में अवतीर्ण स्वयं भगवान् के अन्यान्य जो लक्षण शास्त्रों में लिखते हैं, वे समस्त भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव में विराजते हैं।

(क) गौरवर्ण—श्रीमद्भागवत के 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' श्लोक से जान लिया जा चुका है कि वर्त्तमान कलि के उपास्यरूप में जो अवतीर्ण होंगे, गत द्वापर में ही करभाजन मुनि ने सूचित कर दिया था कि उनका वर्ण 'अकृष्ण'—पीत होगा। श्रीमद्भागवत के 'आसन् वर्णाः'—श्लोक से भी ज्ञात होता है कि विशेष कलि में अवतीर्ण होने वाले स्वयं भगवान् का वर्ण 'पीत' है। महाभारत में भी (विष्णु सहस्रनामान्तर्गत) भगवान् का एक नाम वर्णित है "हेमाङ्ग"। 'पीत' एवं 'हेमाङ्ग' ये दोनों शब्द एक ही अर्थ को सूचित करते हैं—स्वर्ण की भांति उज्ज्वल गौरवर्ण।

शचीनन्दन श्रीकृष्णचैतन्यदेव का वर्ण भी उज्ज्वल गौरवर्ण है।

तथि लागि पीतवर्ण चैतन्य अवतार।
तप्तहेम समकान्ति—प्रकाण्ड शरीर ॥

श्री चै० च० १. ३. ३१-३२

—नाम प्रचार तथा व्रज-प्रेम दान करने के लिए श्रीकृष्ण पीतवर्ण धारण कर श्रीचैतन्यरूप से अवतीर्ण हुए। परमोज्ज्वल तप्त स्वर्ण की भांति उनके विशाल शरीर की कान्ति है।

एक कवि ने कहा है—**अपरूप गोरा तनु-कषित-काञ्चन जनु।**

श्रीमन्महाप्रभु का अद्भुत गौर शरीर है, मानों जैसे परमोज्ज्वल तप्त स्वर्ण ही हो।

इसीलिए ही श्रीचैतन्यदेव को—गौर, गौरसुन्दर, गौरहरि, गौरकृष्ण गौरभगवान्, हेमाङ्ग इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है।

(ख) कलि में अवतरण—श्रीमद्भागवत में कहा गया है, अकृष्ण अर्थात् गौरवर्ण से स्वयं भगवान् इस वर्त्तमान कलि में अवतीर्ण होंगे। पूर्वोधृत उपपुराण के प्रमाण से भी ज्ञात होता है कि पापहत जीवों को प्रेमदान करने के उद्देश्य से स्वयं भगवान् विशेष कलियुग में अवतार लिया करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव अवतीर्ण हुए—१४०७ शकाब्द में वर्त्तमान कलि में। गत द्वापर में श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए थे इसलिए वर्त्तमान कलि एक विशेष कलियुग है।

(ग) संन्यास—उपपुराण में कहा गया है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम-दान करने के लिए विशेष कलि में अवतीर्ण होकर संन्यास ग्रहण किया करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौरसुन्दर ने भी १४३१ शक में माघ मास की शेष तिथि पूर्णिमा के दिन काटोया में श्रीपाद केशव भारती से संन्यास ग्रहण किया। संन्यास के समय ही उनका 'श्रीकृष्णचैतन्य' नाम प्रकटित हुआ। श्रीकृष्णचैतन्य का ही संक्षिप्त नाम 'श्रीचैतन्य' है।

(घ) भक्तभाव—श्रीमद्भागवत एवं महाभारत के प्रमाणों से जाना जाता है कि—गौरवर्ण स्वयं भगवान् में भक्तभाव प्रकटित है।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य में भी भक्तभाव प्रकट है। भक्तभाव में, कृष्ण-भक्त की भांति वे श्रीकृष्ण का नाम-कीर्त्तन (संख्या रक्षण पूर्वक नाम कीर्त्तन भी) करते हैं। श्रीकृष्ण के रूप-गुण-लीलादि का भी वे श्रवण, वर्णन एवं कीर्त्तन करते हैं। श्रीमद्भागवत के "कृष्णवर्णः" एवं महाभारत के "सुवर्ण वर्णः" इन शब्दद्वय की सार्थकता ही श्रीमन्महाप्रभु में दृष्ट होती है।

'कृष्ण' एई दुइ वर्ण सदा याँर मुखे।
अथवा कृष्णके तेंहों वर्णे निज सुखे॥
'कृष्णवर्ण' शब्देर एइ दुइ त प्रमाण।
कृष्ण बिनु तांर मुखे नाहि आइसे आन्॥

श्री चै० च० १. ३. ४२-४३

—'कृष्ण' ये दो शब्द सदैव जिनकी जिह्वा पर हैं अथवा जो अपने सुख के लिए कृष्ण का ही वर्णन करते हैं। 'कृष्णवर्ण' शब्द के यही दो ही प्रमाण हैं। कृष्ण के बिना जनकी जिह्वा पर और कुछ नहीं आता।

(ङ) महाभारतोक्त अन्यान्य लक्षण—'हेमाङ्ग' भगवान् के अन्यान्य लक्षण सम्बन्ध में पूर्वोद्धृत महाभारत के वाक्य द्वारा जाना जाता है कि—वे वराङ्ग, चन्दनाङ्गदी, शम, शान्त, निष्ठा-शान्तिपरायण हैं।

श्रीमन्महाप्रभु के सम्बन्ध में भी श्री कविराज गोस्वामी ने कहा है—

दैर्घ्य-विस्तारे येइ आपनार हाथे।
चारि-हस्त हय महापुरुष विख्याते॥
'न्यग्रोधपरिमण्डल' हय तार नाम।
न्यग्रोधपरिमण्डल-तनु चैतन्य गुणधाम॥
आजानुलम्बित - भुज—कमल-लोचन।
तिलफुल जिनि नासा—सुधांशु वदन॥
शान्त, दान्त, कृष्ण भक्ति-निष्ठापरायण।
भक्तवत्सल, सुशील, सर्वभूते सम॥
चन्दनेर अङ्गद-माला, चन्दनभूषण।
नृत्यकाले परि करेन कृष्ण संकीर्त्तन॥
एइ सब गुण लञा मुनि वैशम्पायन।
सहस्रनामे कैल तार नामेर गणन॥

श्री चै० च० १. ३. ३३-३८

—जिसका शरीर ऊँचाई तथा चौड़ाई में अपने हाथों की माप से चार हाथ लम्बा हो, अर्थात् पदतल से लेकर मस्तक की शेष सीमा तक तथा दोनों हाथ फैलाने पर एक हाथ की मध्यमा अंगुली से दूसरे हाथ की मध्यमा अंगुली के शेष भाग तक जो अपने हाथों की माप से चार हाथ हो उसे महापुरुष कहते हैं तथा उसका नाम न्यग्रोध-परिमण्डल है। श्रीचैतन्य गुण-धाम भी न्यग्रोध-परिमण्डल हैं। श्रीचैतन्य की भुजाएं घुटने पर्यन्त लम्बी हैं। उनके नेत्र कमल के समान विशाल एवं सुन्दर हैं। उनकी नासिका तिल के फूल से भी अधिक सुन्दर है। उनका मुख चन्द्र से भी सुन्दर एवं ज्योतिर्मय है। भगवान् में निष्ठा बुद्धि होने से उनका चित्त स्थिर है। वे इन्द्रियों को जीतने वाले हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति का एकान्तिक भाव से आश्रय किया है। जैसे पिता-माता सन्तान में स्नेह करते हैं, वे उसी प्रकार अपने भक्तों में स्नेह करते हैं। वे सदाचारी हैं। उनका व्यवहार सब प्राणियों के प्रति समान है। श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण-लीलादि के सङ्कीर्त्तन में नृत्य करते समय वे अपनी भुजाओं में अङ्गद के रूप में एवं हाथों में कङ्कण के रूप में चन्दन अङ्कित करते हैं; उपर्युक्त समस्त गुणों को उपलक्ष्य करते हुए वैशम्पायन मुनि ने महाभारत के अन्तर्गत विष्णु सहस्रनाम में श्रीचैतन्य के (आठ) नामों की गणना की है।

पूर्ववर्त्ती (द्वितीय) अनुच्छेद में जो दो लक्षण उल्लिखित हुए हैं वही दो लक्षण ही श्रीमन्महाप्रभु के स्वयं-भगवत्ता के विशेष लक्षण हैं। पूर्ववर्त्ती (१ और ३ अनुच्छेद में) आलोचित लक्षण तो आनुषङ्गिक वा साधारण लक्षण हैं, स्वयं भगवत्ता के विशेष लक्षण नहीं हैं।

द्वितीय अनुच्छेद में आलोचित लक्षणों द्वारा ही जाना जाता है कि श्रीमन्महाप्रभु स्वयं भगवान् हैं। उनके गौरवर्ण का भी दिग्दर्शन कराया गया है। उनके गौरवर्ण का हेतु क्या है—यहां उसकी आलोचना करते हैं। गौराङ्गी श्रीराधा जी के साथ एकत्व-प्राप्ति ही उनके गौर वर्ण का हेतु है।

—※—

श्रीचैतन्य—श्रीश्रीराधाकृष्ण-मिलित स्वरूप

पूर्वोद्धृत श्रीमद्भागवत के 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्'—श्लोक की आलोचना में कहा गया है कि वर्त्तमान कलि के उपास्य गौरवर्ण स्वयं भगवान् हैं—श्रीश्रीराधाकृष्ण-मिलित स्वरूप।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने केवल अपने में स्वयं भगवत्ता के लक्षण ही प्रकट किये हों, ऐसा नहीं है। वे राधाकृष्ण-मिलित स्वरूप हैं, इस बात को भी गोदावरी तीर पर रायरामानन्द के सामने प्रकटित किया है।

प्रभु जब दक्षिण भारत भ्रमण पर गये तो गोदावरी तीर पर विद्या नगर में रायरामानन्द से उनका मिलन हुआ। रामानन्द उस समय उड़िया के स्वाधीन हिन्दू प्रजापति राजा प्रतापरुद्र के अधीन राजमहेन्द्री नामक प्रान्त के शासन-कर्त्ता थे, किन्तु विषय में रहते हुए भी वे थे—परम-भागवत महाप्रेमिक, महापण्डित एवं कृष्ण-भक्ति के रसज्ञ। महाप्रभु वहां एक वैष्णव-ब्राह्मण के घर में अवस्थान करते और संध्या के समय रामानन्द आकर उनसे मिला करते। अनेक रात्रि पर्यन्त प्रभु ने उनके साथ साध्य-साधन-तत्व की आलोचना की। इस आलोचना में प्रभु थे श्रोता और रायरामानन्द थे वक्ता।

प्रभु का यह एक स्वभाव है, (सम्भवतः भक्तभावमय होने से) कि वे प्रायः सब समय ही आत्म-गोपन करने की चेष्टा करते हैं—अपने को छुपाने

की चेष्टा करते हैं—'छन्नः कलौ' हैं न! किन्तु प्रेमिक भक्तों के सामने भगवान् का यह आत्म-गोपन-प्रयास सफल नहीं हो पाता। प्रेमिक भक्त अपने प्रेम के बल से आत्म-गोपनकारी भगवान् को पहचान ही लेते हैं।

लुकाइते नारे कृष्ण भक्तजन स्थाने।

श्री चै० च० १. ३. ७१

—'भक्तजनों के सामने कृष्ण अपने को छिपा नहीं पाते।' रामानन्द के साथ आलोचना करते समय भी प्रभु ने आत्म-गोपन की चेष्टा की तथापि स्वीय असाधारण प्रेम-प्रभाव से रामानन्द ने समय-समय पर प्रभु के स्वरूप का दर्शन किया, प्रभु का स्वरूप समय-समय पर रामानन्द के प्रेमाञ्जन-बिच्छुरित नेत्रों के समक्ष साक्षात् स्फुरित होता रहा, किन्तु वह हुआ बहुत अल्प समय के लिए ही। स्फूर्त्ति प्राप्त होती और तत्क्षण अन्तर्हित हो जाता। रामानन्द ज्योतिस्तम्भ की भांति प्रभु के स्वरूप का दर्शन पाते। उसका कारण यह कि प्रभु की इच्छा नहीं है कि आलोचना के बीच रामानन्द उनके स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करें, कारण कि ऐसा होने पर और आलोचना नहीं चल पायेगी।

यद्यपि राय प्रेमी महाभागवते।
रायेर मन कृष्णमाया नारे आच्छादिते॥
तथापि प्रभुर इच्छा परम प्रबल।
जानितेहो रायेर मन हइल टलमल॥

श्री चै० च० २. ८. १०२-१०३

—"यद्यपि राय रामानन्द प्रेमी एवं महाभागवत हैं, उनके मन को माया आच्छादित नहीं कर सकती तथापि प्रभु की इच्छा अत्यन्त प्रबल है। जानते हुए भी उनका मन डांवाडोल हो जाता है।"

आलोचना के शेष होने पर प्रभु की इच्छा हुई कि रामानन्द को अपना स्वरूप दिखावें। एक दिन रामानन्द ने जाकर प्रभु को प्रणाम किया। प्रणाम तो किया—संन्यासी को; किन्तु उठकर क्या देखा कि संन्यासी रूप के बजाए वहां और एक अपूर्व रूप विद्यमान है। वह कौन सा?—कमल-नयन श्यामसुन्दर वंशीवदन और उनके साथ है स्वर्ण-प्रतिमा सदृशी श्रीराधा। श्रीराधा की अङ्ग-कान्ति से श्यामसुन्दर के सब अङ्ग आच्छादित हो रहे हैं।

यह रूप देखकर रामानन्द के मन में संशय उदित हुआ। उन्होंने प्रभु के निकट अपने संशय को खोलकर कहा—

एक संशय मोर आछये हृदये।
कृपा करि कह मोरे ताहार निश्चये॥
पहिल देखिलुँ तोमा संन्यासि-स्वरूप।
एबे तोमा देखि मुञि श्याम गोप रूप॥
तोमार सन्मुखे देखों काञ्चन-पञ्चालिका।
तार गौर कान्त्ये तोमार सर्व अङ्ग ढाका॥
ताहाते प्रकट देखि सवंशीवदन।
नाभाभावे चञ्चल ताहे कमल-नयन॥
एइमत तोमा देखि हय चमत्कार।
अकपटे कह प्रभु! कारण इहार॥

श्री चै० च० २. ८. २२०-२२४

—(प्रभो!) मेरे हृदय में एक संशय है। कृपा करके मुझे वह निश्चय रूप से बताइए—उसे दूर कीजिए। पहले मैंने आपके संन्यासी स्वरूप को देखा और अब मैं आप को श्याम गोपवेश में देख रहा हूँ और तुम्हारे साथ एक स्वर्ण प्रतिमा को देख रहा हूँ। उसकी गौर-कान्ति से आपके सब अङ्ग ढके हुए हैं। उसमें भी प्रकटरूप से मैं आपके वंशीयुक्त मुखकमल को देख रहा हूँ और उसमें भी फिर नाना भावों से चञ्चल गति करते हुए कमल-नयन के दर्शन कर रहा हूँ। इस प्रकार आपको देखकर मुझे बड़ा चमत्कार हो रहा है। हे प्रभो! अकपट भाव से इसका मुझे कारण बताईए?

अब फिर प्रभु ने अपने को छिपाने की चेष्टा की, यह बाहर की चेष्टा मानो रस-पुष्टि के ही निमित्त थी। उलङ्ग (खुले) सौन्दर्य की अपेक्षा प्रछन्न (गुप्त) सौन्दर्य में ही अधिक माधुर्य है। रामानन्द की बात सुनकर प्रभु बोले—

प्रभु कहे—कृष्णे तोमार गाढ़ प्रेम हय।
प्रेमार स्वभाव एइ जानिह निश्चय॥
महाभागवत देखे स्थावर-जङ्गम।
ताहाँ-ताहाँ हय तार कृष्ण-स्फुरण॥

स्थावर-जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्त्ति।
सर्वत्र हय निज इष्टदेव स्फूर्त्ति॥
राधाकृष्णे तोमार महाप्रेम हय।
याहाँ-याहाँ राधाकृष्ण तोमार स्फुरय॥

श्री चै० च० २. ८. २२५-२२८

प्रभु ने कहा—रामानन्द! तुम्हारा कृष्ण में गाढ़ प्रेम है और निश्चय ही प्रेम का स्वभाव ऐसा है कि महाभागवत स्थावर-जङ्गम जो कुछ भी देखता है वहां-वहां उसे श्रीकृष्ण ही स्फुरण होते हैं। वह देखता तो स्थावर-जङ्गम ही है—उनकी मूर्ति को नहीं देखता किन्तु उसे सब जगह अपने इष्टदेव की ही स्फूर्त्ति होती है। रामानन्द! राधाकृष्ण में तुम्हारा अत्यन्त प्रेम है इसलिए जहां-तहां तुम्हें राधाकृष्ण की स्फूर्त्ति हो रही है।

—रामानन्द! तुम अपने प्रेम-प्रभाव से ही ऐसा देख रहे हो। मैं संन्यासी ही हूँ, और कोई नहीं। तुम यदि किसी स्थावर-जङ्गम की ओर देखते तो अपने प्रेम-प्रभाव से तुम्हें उनका स्थावर-जङ्गम स्वरूप न दीखता, बल्कि तुम देखते अपने इष्टदेव श्रीश्रीराधाकृष्ण को ही।

इस बार रामानन्द प्रभु की चतुराई में भूले नहीं। प्रभु-कृपा से राय के चित्त में प्रभु के स्वरूप की अनुभूति हुई है। वे बोले—

—तुमि प्रभु छाड़ भारिभुरि।
मोर आगे निज रूप ना करिह चुरि॥
राधिकार भाव कान्ति करि अङ्गीकार।
निज रस आस्वादिते करियाछ अवतार॥
निज गूढ़ कार्य तोमार प्रेम आस्वादन।
आनुसङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन॥
आपने आइले मोरे करिते उद्धार।
एबे कपट कर, तोमार कोन् व्यवहार॥

श्री चै० च० २. ८. २२९-२३२

—"प्रभो! यह आप अपनी चातुरी छोड़ो। मेरे समक्ष अपने रूप को मत छुपाओ। श्रीराधा की अङ्ग-कान्ति को अङ्गीकार कर अपने रस को आस्वादन करने के लिए आपने अवतार लिया है। प्रेम-आस्वादन

करना ही आपका अपना गूढ़ (प्रधान) कार्य है। और गौण रूप से आपने त्रिभुवन को प्रेममय कर दिया है। आप मेरे उद्धार के लिए ही यहां पधारे हो। अब मुझसे कपट करते हो, यह आपका कैसा व्यवहार है।"

रामानन्द की बात सुनकर प्रभु थोड़े से हँस पड़े और हँसकर के रामानन्द को अपने स्वरूप का दर्शन कराया।

तबे हासि प्रभु तारे देखान स्वरूप।
रसराज महाभाव दुइ एकरूप॥

श्री चै० च० २. ८. २३३

प्रभु ने रामानन्द राय को अपना जो स्वरूप दिखलाया, वह है—रसराज एवं महाभाव, इन दोनों से मिलित एक ही रूप। रसराज तो हैं—अखिल-रसामृत-सिन्धु शृङ्गार-रसराज-विग्रह श्रीकृष्ण और महाभाव हैं—महाभाव-स्वरूपा, महाभाव की मूर्त्त विग्रह स्वरूपा श्रीराधिका। अतएव "**रसराज महाभाव दुइ एक रूप**" हुआ—श्रीश्रीराधाकृष्ण मिलित विग्रह; और यही है प्रभु का स्वरूप।

राय रामानन्द प्रभु के इस स्वरूप को देखकर आनन्द में विभोर में मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े।

देखि रामानन्द हैला आनन्दे मूर्च्छित।
धरिते ना पारे देह—पड़िला भूमिते॥

श्री चै० च० २. ८. २३४

प्रभु के हस्त स्पर्श से रामानन्द की मूर्च्छा भङ्ग हुई; तब उन्होंने देखा—यह संन्यासी तो वही संन्यासी है; "रसराज महाभाव दुइ एक रूप" अब नहीं रहा। रामानन्द बड़े विस्मित हुए। प्रभु ने उन्हें आलिङ्गन कर आश्वस्त किया एवं जो स्वरूप उन्होंने उन्हें दिखलाया, उसका उन्होंने परिचय भी दिया।

गौर अङ्ग नहे मोर राधाङ्ग-स्पर्शन।
गोपेन्द्रसुत विना तेंहो ना स्पर्शे अन्यजन॥

श्री चै० च० २. ८. २३८

—रामानन्द! मेरा अपना अङ्ग वास्तव में गौर-वर्ण नहीं है, तुम जो मुझे गौर-वर्ण देख रहे हो इसका कारण है—श्रीराधा के अङ्ग का

स्पर्श। और श्रीराधा भी गोपेन्द्र-सुत को छोड़कर और किसी का स्पर्श करती नहीं।

भावभङ्गी में प्रभु बोले—"और वे हैं ब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण। उनका अपना वर्ण तो है—नवजलधर-श्याम—गौर नहीं है। गौर-अङ्गी श्रीराधा ने प्रेम-विभोर हो अपने गौर अङ्ग द्वारा उनके श्याम अङ्ग को स्पर्श वा आलिङ्गन किया अतः वे (श्यामसुन्दर) गौर-सुन्दर हो गये।

प्रभु ने और भी कहा—

तार भावे भावित आमि करि आत्ममन।
तबे निज माधुर्यरस करि आस्वादन॥

श्री चै० च० २. ८. २३९

—श्रीराधा के भाव द्वारा (मादनाख्य महाभाव द्वारा) अपने आत्मा (देह को) एवं मन (तथा समस्त इन्द्रिय वर्ग) को भावित (परिसिञ्चित) कर मैं (ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण) अपने माधुर्य रस का आस्वादन करता रहता हूँ।

किस उद्देश्य से श्रीकृष्ण श्रीराधा से मिलित होकर—एकत्व को प्राप्त होकर—गौर हुए हैं, प्रभु ने यह भी कहा—स्वीय (श्रीकृष्ण स्वरूप के) माधुर्य-रस को आस्वादन करने के उद्देश्य से ही वे श्रीराधा के साथ एकत्व को प्राप्त हुए हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि स्वीय माधुर्य को पूर्णतम रूप से आस्वादन करने के निमित्त श्रीकृष्ण की बलवती लालसा बनी रहती है किन्तु श्रीराधा के मादनाख्य महाभाव के आश्रय लिए बिना वह सम्भव-पर नहीं है और श्रीराधा के साथ एकत्व प्राप्त हुए बिना श्रीराधा-प्रेम के आश्रित नहीं हुआ जा सकता; इसी कारण ही श्रीकृष्ण श्रीराधा के साथ एकत्व को प्राप्त हुए हैं एवं इसी से ही उनका श्याम अङ्ग श्रीराधा के गौर अङ्ग के अन्तराल में प्रच्छन्न हो गया है—कृष्णवर्ण श्रीकृष्ण कान्ति में अकृष्ण (त्विषाकृष्ण) हुए हैं, अन्तःकृष्ण बहिर्गौर हुए हैं, और अन्तर में भी श्रीकृष्ण का चित्त श्रीराधा के प्रेम के आश्रित हुआ है और इसी प्रेम-रस के द्वारा उनका चित्त, इन्द्रिय, देह—समस्त ही सम्यक्-रूप से परि-

निषिक्त है; इसीलिए ही वे श्रीराधा की भांति स्वीय माधुर्य को आस्वादन कर पाये हैं।

पूर्वोक्त विवरण से—श्रीश्रीगौर-स्वरूप का और भी एक वैशिष्ट्य जाना जाता है और वह है गौरहरि के माधुर्य का वैशिष्ट्य।

"रसराज महाभाव दुइ एक रूप" देखने से पूर्व ही राय रामानन्द ने श्रीश्यामसुन्दर वंशीवदन के सम्मुख स्वर्णा-प्रतिमा सदृशी श्रीराधा के दर्शन किये। श्रीराधा के सान्निध्य में तब श्यामसुन्दर-श्रीकृष्ण का मदनमोहन रूप ही प्रकट हुआ था; कारण कि, **"राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः"** इस मदनमोहन छटा के दर्शन में भी रामानन्द ने निश्चय ही अपरिसीम आनन्द का अनुभव किया, किन्तु तब भी वह मूच्छित नहीं हुए। इससे जाना जाता है कि—मदनमोहन रूप के दर्शन से उत्पन्न आनन्दोद्रेक को संवरण करने की शक्ति रामानन्द में थी; किन्तु उन्होंने जब प्रभु के स्वरूप—'रसराज महाभाव दुइ एक रूप'—को देखा, तब आनन्द के आधिक्य से वे मूच्छित होकर गिर पड़े। इससे जाना जाता है—इस राधाकृष्ण—मिलित स्वरूप के दर्शन से उत्पन्न आनन्दोद्रेक को संवरण करने की शक्ति रामानन्द में नहीं थी। इसलिए इस 'रसराज महाभाव दुइ एक रूप' में मदन-मोहन छबि की अपेक्षा भी अधिकतर एक अनिर्वचनीय माधुर्य का विकाश है, यह सहज में ही समझा जा सकता है। रसस्वरूप परब्रह्म स्वयं भगवान् के स्वरूपगत माधुर्य का पूर्णतम विकाश है इसी—'रसराज महाभाव दुइ एक रूप' में ही।

श्रीकृष्ण के माधुर्यघन-विग्रह होते हुए भी उनके माधुर्य को बाहर अभिव्यक्त—तरङ्गायित कर सकता है—एक मात्र परिकर भक्तों का प्रेम। जिसमें प्रेम का जितना विकाश है, उसके सान्निध्य में माधुर्य का भी उतना ही विकाश सम्भव है। श्रीराधिका जी में प्रेम का सर्वातिशायी विकाश होने से एक मात्र श्रीराधा के सान्निध्य में ही श्रीकृष्ण के माधुर्य का भी सर्वातिशायी विकाश—मदनमोहन रूप का विकाश सम्भव है। और फिर श्रीराधा का सान्निध्य जितना घनिष्ट होगा, माधुर्य का विकाश भी वहां उतना ही अधिक होगा। किन्तु ब्रज में श्रीराधा और श्रीकृष्ण का सान्निध्य चाहे जितना भी घनिष्ट क्यों न हो, उनके देह तो भिन्न रहते ही हैं। यहां 'रसराज महाभाव दुइ एक रूप' में सान्निध्य इतना घनिष्ट है, इतना निविड़ है कि

उनका भेद एकदम ही विलुप्त हो गया है, वे एकत्व को प्राप्त हो गये हैं। अतः इस रूप में श्रीकृष्ण का माधुर्य पूर्णतम रूप में—मदनमोहन रूप की अपेक्षा भी अधिक रूप में विकसित हुआ है यह सहज ही समझा जा सकता है।

और फिर श्रीराधा के सान्निध्य में श्रीकृष्ण का माधुर्य जैसे-जैसे वर्द्धित होता है उसे देखकर श्रीराधा का प्रेम भी वैसे-वैसे वर्द्धित—उच्छ्वसित होता जाता है और फिर श्रीराधा के इस उच्छ्वसित प्रेम और उससे उत्पन्न श्रीराधा के अङ्गों में तरङ्गायित आनन्द की लहरी को देख कर श्रीकृष्ण का वर्द्धित माधुर्य और भी वर्द्धित होता है। श्रीकृष्ण का माधुर्य और श्रीराधा का प्रेम एवं आनन्द-लहरी परस्पर मानो होड़ करते हुए वर्द्धित होते रहते हैं। इसे श्रीकृष्ण के वचनों में ही श्री कविराज गोस्वामी ने प्रकाशित किया है—

मन्माधुर्य राधा-प्रेम दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाढ़े दोंहे केह नाहि हारि॥

श्रीं चै० च० १. ४. १२४

सुतरां 'रसराज महाभाव दुइ एक रूप'—श्रीश्रीगौरसुन्दर में ही है—श्रीकृष्ण के माधुर्य का पूर्णतम विकाश, और आत्म पर्यन्त सर्वचित्तहारी स्वयं श्रीकृष्ण पर्यन्त भी जिस रूप को देखकर मुग्ध हो जाते हैं, उसी श्रीराधा के माधुर्य के पूर्णतम विकाश एवं दोनों के निविड़तम सान्निध्य के कारण परस्पर की होड़ में वर्द्धनशील है दोनों के माधुर्य का विकाश। इसलिए इस अपूर्वरूप का माधुर्य अनिर्वचनीय है, अतुलनीय है, स्वयं मदन-मोहन के भी मन को मोहित करने वाला है। श्रीजीव गोस्वामिपाद ने सन्दर्भ में लिखा है—"युगलित राधाकृष्ण परम स्वरूप है। रसराज महाभाव दोनों इसी ही एक रूप में हैं—यही उनके युगलितत्व का चरम विकाश है। इसलिए ही श्रीपाद स्वरूप दामोदर ने कहा है—"न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्वं परमिह।"—श्रीकृष्णचैतन्य से परे जगत् में और कोई पर-तत्व नहीं है।

शक्ति एवं शक्तिमान मिलकर ही स्वरूप कहलाता है। जिस स्वरूप में शक्ति का विकाश जितना अधिक है, उस स्वरूप की महिमा भी उतनी अधिक है। ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण में सर्व शक्तियों का पूर्णतम विकाश है।

किन्तु उनके स्वरूप में केवल मात्र अमूर्त्त शक्ति का ही पूर्णतम विकाश है। पहले भी यह कहा जा चुका है—शक्ति दो रूपों से अवस्थान करती है, मूर्त्त एवं अमूर्त्त। ब्रजलीला में मूर्त्त शक्ति हैं श्रीराधारूप में श्रीकृष्ण के बाहर। और रसराज महाभाव दोनों जहां एक रूप में हैं, वहां श्रीकृष्ण की मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों शक्तियों का एक रूप में सम्मिलन है। इसलिए इस रूप में स्वरूप-महिमा का पूर्णतम विकाश है, इस रूप में ही परम स्वरूपत्व का भी पूर्णतम विकाश है। श्री स्वरूप दामोदर जी ने अपनी पूर्वोक्ति में इस तत्व का संकेत किया है।

'न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्वं परमिह'—श्रीपाद स्वरूप दामोदर की इस उक्ति का तात्पर्य एक दूसरे भाव से भी विवेचित हो सकता है। श्रुति परब्रह्म को 'आनन्द स्वरूप'—आनन्द ब्रह्म एवं रसस्वरूप—रसो वै सः, सर्वरसः' कहती है। आनन्द-शब्द से एवं रस-शब्द से भी माधुर्य ही सूचित होता है। अतएव माधुर्य ही परब्रह्मत्व का सार है या प्राण—यह बात सहज में ही समझी जा सकती है। सर्वशक्ति समन्वित परब्रह्म ही अद्वयज्ञानतत्व स्वयं भगवान् हैं—इसमें भी सन्देह नहीं है। **'ॐ परब्रह्म गोपालः ॐ'**—इत्यादि श्रुति वाक्यों में और **'यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परब्रह्म नराकृतिम्'** इत्यादि विष्णु पुराण वाक्यों में एवं **'परं ब्रह्म परंधाम** इत्यादि श्रीगीता वाक्यों में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म कहा गया है। श्रीमद्भागवत भी कहती है—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" इसलिए माधुर्य ही भगवत्ता का एवं परब्रह्मत्व का तथा परमतत्त्वत्त्व का सार है, यह बात स्पष्ट है इसलिए जहां माधुर्य का सर्वातिशायी विकाश है, वहां ही स्वयं भगवत्ता का एवं परमतत्वत्व का सर्वातिशायी विकाश है इसमें कोई सन्देह नहीं है। श्रीचैतन्यरूप कृष्ण में रसराज महाभाव दोनों एक ही साथ सम्मिलित हैं,जिसमें माधुर्य का सर्वातिशायी विकास सिद्ध होता है। इसलिए कहा गया है **"न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्वं परमिह।"**

श्रीश्रीगौरसुन्दर श्रीश्रीराधाकृष्ण के सम्मिलित स्वरूप हैं—राय रामानन्द जी ने उसका परतत्व दर्शन किया। श्रीपाद रूपगोस्वामी के एक वाक्य से स्पष्ट है कि उन्होंने भी उसी स्वरूप की उपलब्धि की थी। उन्होंने कहा है—

अपारं कस्यापि प्रणयिजनवृन्दस्य कुतुकी
रसस्तोमं हृत्वा मधुरमुपभोक्तुं कमपि यः।
रुचं स्वामावब्रे द्युतिमिह तदीयां प्रकटयन्
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु॥

—जो कौतुक-विशिष्ट होकर अपनी प्रेयसी ब्रजाङ्गनाओं के बीच किसी एक प्रेयसी—श्रीराधा के अपरिसीम एवं अनिर्वचनीय रस-राशि का अपहरण करके उपभोग करने के अभिप्राय से उन श्रीराधा जी की कान्ति को प्रकट कर उसके द्वारा अपनी श्याम कान्ति को आवृत्त करते हैं, वही चैतन्य-आकृति देव श्रीकृष्ण हमारे प्रति अतिशय रूप से कृपा करें।

श्रीमन्महाप्रभु के अन्तरङ्ग पार्षदों के बीच और भी किसी-किसी ने रसराज महाभाव मिलित इस रूप का अनुभव प्राप्त नहीं किया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्री स्वरूप दामोदर जी ने इसी रूप का अनुभव पाकर **"तद्द्वयञ्चैक्य माप्तं राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्ण स्वरूपम्"** कहा है।

राय रामानन्द जी ने प्रभु के जिस स्वरूप का दर्शन प्राप्त किया था, वह राधाद्युति सुवलित श्रीकृष्ण स्वरूप ही था, यह बात परिष्कार भाव से जानी जाती है और श्रीमन्महाप्रभु राधाभाव सुवलित श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं, प्रभु की अपनी उक्ति से भी जाना जाता है—

तांर भावे भावित आमि करि आत्म-मन।
तबे निज माधुर्य रस करि आस्वादन॥

श्री चैं० च० २. ८. २३६

—अर्थात् मैं अपने शरीर और मन को उनके—श्रीराधा जी के भाव में भावित करके अपने माधुर्य रस का आस्वादन करता हूँ।

राधाभाव सुवलितत्व

श्रीश्रीराधाकृष्ण की एकत्व प्राप्ति से ही श्रीकृष्ण द्वारा श्रीराधा की कान्ति का ग्रहण करना जैसे सूचित होता है उसी प्रकार उनके भाव का ग्रहण करना भी सूचित होता है। वस्तुतः अपने माधर्य को आस्वादन करने

के लिए श्रीकृष्ण के लिए श्रीराधा के भाव को ग्रहण करना ही मुख्यरूप से आवश्यक है। इसी भाव के ग्रहण करने के लिए ही श्रीराधा के साथ उनकी एकत्व-प्राप्ति है और एकत्व-प्राप्ति के फल स्वरूप कान्ति का ग्रहण करना है। 'तार भावे भाविते आमि करि आत्ममन। तबै निज माधुर्य-रस करि आस्वादन।'—इस वाक्य में श्रीश्रीगौरसुन्दर रूप श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से ही श्रीराधा के भाव ग्रहण की जो बात प्रकाशित की है, उसे पूर्ववर्त्ती आलोचना में ही कहा जा चुका है।

श्रीराधा के भाव को ग्रहण करने से उस भाव के आवेश में श्रीगौर-कृष्ण अपने को श्रीराधा समझा करते हैं और श्रीराधा जैसे श्रीकृष्ण को अपना प्राण-कान्त समझती हैं, राधाभावाविष्ट श्रीगौरकृष्ण स्वयं श्रीकृष्ण होते हुए भी उसी प्रकार ब्रजेन्द्रनन्दन-श्रीकृष्ण को अपना प्राण-वल्लभ जानते हैं।

राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान।
सेइ भावे आपनाके हय 'राधा'-ज्ञान॥

श्री चै० च० ३. १४. १३

गोपी भाव याते प्रभु धरियाछे एकान्त।
ब्रजेन्द्र-नन्दने माने आपनार कान्त॥

श्री चै० च० १. १७. २७०

श्रीराधा के मादनाख्य-महाभाव को ग्रहण करने से श्रीमन्महाप्रभु का अन्तःकरण श्रीराधा के भाव के साथ ऐसा निबिड़ भाव से तादात्म्य प्राप्त है कि उनका आचरण देखकर लगता है, श्रीराधा का भाव ही मानो मूर्त्ति धारण कर प्रभु के अन्तःकरण रूप में परिणत हो गया है। श्रीराधा के अन्तःकरण में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जो-जो भाव उदित होता है, प्रभु के अन्तःकरण में भी वही-वही भाव उदय हुआ करता है। श्रीकृष्ण के साथ मिलन में श्रीराधा को जो अनिर्वचनीय सुख होता है, श्रीकृष्ण के साथ मिलन की स्फूर्त्ति में राधाभावाविष्ट प्रभु के मन में भी उस प्रकार का सुख उदय होता है। और श्रीकृष्ण के विरह में श्रीराधा के चित्त में जो तीव्र दुख होता है श्रीकृष्ण के विरह भाव में राधाभावाविष्ट प्रभु के मन में भी उसी प्रकार का असह्य दुख हुआ करता है।

राधिकार भावमूर्त्ति प्रभुर अन्तर।
सेई भावे सुखः दुःख उठे निरन्तर॥

श्री चै० च० १. ४. ६३

श्रीकृष्ण के विरह में एवं श्रीकृष्ण प्रेरित दूत श्रीउद्धव के दर्शन से श्रीराधा में जिस प्रकार दिव्योन्माद प्रकाशित होता है, श्रीकृष्ण-विरह भाव के आवेश में प्रभु को भी उसी प्रकार दिव्योन्माद हुआ करता है।

शेष-लीलाय प्रभुर कृष्ण-विरह-उन्माद।
भ्रममय चेष्टा, प्रलापमय वाद॥
राधिकार भाव यैछे उद्धव दर्शने।
सेइ भावे मत्त प्रभु रहे रात्रि दिने॥

श्री चै० च० १. ४. ६४-६५

अब राधाभावाविष्ट प्रभु के आचरण की कथा का उल्लेख करते हैं।

—***—

श्रीकृष्ण का माधुर्य एवं अपूर्ण वासना

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्ण लीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सब चिदानन्द॥
ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।
ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्मवश॥
ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द कृष्णगुण।
अतएव आकर्षये आत्मारामेर मन॥

श्री चै० च० २. १७. १३०-१३२

१—श्रीकृष्ण के स्वरूप की तरह उनके नाम, गुण एवं लीलासमूह भी चिदानन्द हैं, इसलिए वे परम मधुर और सर्व चित्ताकर्षक हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी पहले ब्रह्मानन्द रस में तन्मय थे; श्रीकृष्ण लीलारस में आकृष्ट होकर उनका चित्त ब्रह्मानन्द से हट गया और फिर उस ओर नहीं लौटा।

स्वसुख निर्भृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ-
प्यजित रुचिरलीलाकृष्ट सारस्तदीयम्।

व्यतनुत कृपया यस्तत्वदीयं पुराणं
तमखिल-वृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥

[श्री भागवत १२. १२. ६९

श्री सूत गोस्वामी ने कहा है—जिनका चित्त ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण था एवं उसी कारण जो अन्य समस्त विषयों से अपनी मनोवृत्ति को दूर रखने में समर्थ थे। ऐसे होते हुए भी अजित श्रीकृष्ण की मनोहारिणी लीला द्वारा आकृष्ट-चित्त होकर कृपावश जिन्होंने श्रीकृष्ण तत्व प्रकाशक श्रीमद्भागवत पुराण का जगत् में प्रचार किया, अखिल पापनाशक उन्हीं व्यासनन्दन श्री शुकदेव जी को मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीकृष्ण के गुण समूह भी ऐसे मधुर हैं, ऐसे सर्व चित्ताकर्षक हैं कि आत्माराम मुनिगण भी उन गुणों में आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

श्री भा० १. ७. १०

श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीलादि केवल दूसरों के चित्त को आकर्षित करने वाले हैं, यह बात नहीं है, श्रीकृष्ण के चित्त का भी आकर्षण करने वाले हैं। श्रीभगवान् ने नारदमुनि के प्रति कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

—नारद! मेरे भक्तगण जहां मेरे नाम-रूप-गुण-लीलादि की कथा कीर्तन करते हैं, मैं वहां ही निवास करता हूँ, उस समय मैं वैकुण्ठ में भी नहीं रहता और योगियों के हृदय में भी नहीं रहता। नाम-गुण-लीलादि के माधुर्य में आकृष्ट होकर श्रीभगवान् कीर्त्तन स्थान पर उपस्थित रहते हैं।

श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण-लीलादि स्वरूपतः श्रीकृष्ण से अभिन्न होने के कारण उनके रूप माधुर्य की तरह उनके नाम-गुण-लीलादि भी श्रीकृष्ण के चित्त को आकर्षण करने वाले हैं। प्रेम के आश्रय न हो सकने पर श्रीकृष्ण का रूप-माधुर्य जैसे आस्वादन नहीं किया जा सकता, उसी

प्रकार उनके नाम-गुण-लीलादि का भी आस्वादन नहीं किया जा सकता। श्रीराधा इन समस्त का पूर्णतम रूप से आस्वादन कर सकती हैं। क्योंकि उनमें कृष्ण-विषयक प्रेम का पूर्णतम विकाश है। श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण-लीलादि का आस्वादन कर श्रीराधा जिस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती हैं। उनके अङ्गों में उस आनन्द की लहरी देखकर श्रीकृष्ण भी उस समस्त को आस्वादन करने के लिए लुब्ध हो उठते हैं। किन्तु ब्रज में वे स्वविषयक प्रेम के आश्रय न होने से उसका आस्वादन नहीं कर पाते। प्रेम के विषयरूप से जितना आस्वादन सम्भव है, केवल मात्र उतना ही वे आस्वादन कर पाते हैं। श्रीराधा के भाव-द्युति सुवलित रूप से वे उसका सम्यक्‌रूप से आस्वादन किया करते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन कहने से श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण-लीलादि सबका माधुर्य ही अभिप्रेत है। राधाभावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु ने उन समस्त का आस्वादन किया।

२—यह पहले कहा जा चुका है कि अपने माधुर्य को आस्वादन करने की वासना ही ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के गौर-रूप का हेतु है। माधुर्य आस्वादन की वासना के साथ-साथ स्वाभाविक भाव से और भी दो आनुषङ्गिक वासनाओं का उदय होता है—जिस प्रेम के प्रभाव से श्रीराधा श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन करती हैं, उस प्रेम की महिमा कैसी है, उसे जानने की वासना तथा उस प्रेम के द्वारा श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन कर श्रीराधा जिस सुख का अनुभव करती हैं, वह सुख वैसा है—उसके जानने की वासना। इससे स्पष्ट है कि ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के लिए श्रीराधा-भाव-कान्ति ग्रहण कर गौर होने का हेतु हैं तीन वासनाएं—एक प्रमुख और दो आनुषङ्गिक। श्रीपाद स्वरूपदामोदर ने यही कहा है—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिया कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्
तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः ॥

—श्रीराधा के प्रेम की महिमा कैसी है, इस प्रेम के द्वारा श्रीराधा मेरे जिस अद्भुत माधुर्य का आस्वादन करती हैं, वह माधुर्य कैसा है तथा मेरे माधुर्य का आस्वादन कर श्रीराधा जिस सुख को प्राप्त करती हैं, वह सुख कैसा है—इन तीनों विषयों को जानने के लोभ से श्रीराधा के भावयुक्त

होकर श्रीकृष्णचन्द्र शचीगर्भ-रूपी सिन्धु से आविर्भूत हुए।

ब्रजलीला में ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की ये तीनों वासनाएं नित्य ही अपूर्ण रहती हैं, क्योंकि इन तीनों में से कोई एक वासना भी श्रीराधा-प्रेम के आश्रय हुए बिना पूर्ण नहीं हो सकती है एवं ब्रजलीला में श्रीकृष्ण श्रीराधा के मादनाख्य-प्रेम के आश्रय नहीं हैं। राधा-भाव-द्युति सुवलित कृष्णरूप से ही रसिकशेखर श्रीकृष्ण की यह तीनों वासनाएं पूर्ण हो सकती हैं। श्रीश्रीगौरसुन्दर रूप से उन्होंने किस प्रकार इन तीनों अपूर्ण वासनाओं को पूर्ण किया, कैसे उन्होंने श्रीकृष्ण के नाम-रूप-गुण लीलादि का माधुर्य आस्वादन किया—अब आगे उसकी आलोचना की जाती है।

माधुर्यास्वादन व अपूर्ण वासनाओं की पूर्त्ति

श्रीराधा के भाव के आवेश में दिव्योन्मादग्रस्त होकर श्रीमन्महाप्रभु ने नीलाचल में वाक्य-चेष्टादिकों को प्रकाशित किया, श्रीपाद स्वरूपदामोदर तथा श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी ने उन समस्त का प्रत्यक्ष दर्शन किया, और उसे उन्होंने अपनी कड़चा (नोट-बुक) में एवं स्तवादि में लिपिबद्ध कर दिया। उन समस्त स्तवादि एवं कड़चा को देखकर तथा प्रत्यक्षदर्शी श्रीदास गोस्वामी के मुख से सुन कर श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने उसे अपने श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत* में वर्णन किया है। दिग्दर्शनरूप से उसी वर्णना में से यहां कुछ-कुछ उल्लिखित किया जाता है—

नाम-माधुर्य का आस्वादन—श्रीकृष्ण-नाम का आस्वादन कर श्रीराधा जी ने कहा था—

सइ ! केवा शुनाइल श्यामनाम।
ए नाम कानेर भितर दिया, मरमे पशिल गो,
आकुल करिल मोर प्राण॥

* कविराज गोस्वामी श्रीकृष्णदास विरचित श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत का हिन्दी में सरल एवं सरस अनुवाद विस्तृत व्याख्या सहित श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

ना जानि कतेक मधु, श्याम नामे आछे गो,
वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम, अवश करिल गो,
केमने पाइब सखि तारे॥

राधाभावाविष्ट महाप्रभु ने भी इसी भाव से नाम-माधुर्य का आस्वादन किया। पथ चल रहे हैं और अश्रु विगलित नेत्रयुक्त होकर प्रेम में गद्गद कण्ठ होकर गा रहे हैं—

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण रक्ष माम्।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण पाहि माम्॥
राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥

कृष्ण-विरह व्याकुलित श्रीराधा के भावावेश में प्रभु अस्थिर हैं, एकदम नाम की स्फूर्त्ति होती है, नाम-माधुर्य का आस्वादन करते हुए हर्षित होकर प्रभु ने कहा है—

आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्।
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम्॥

—श्रीकृष्ण नाम-सङ्कीर्त्तन से हृदय में आनन्द का समुद्र तरङ्गायित हो उठता है। नाम-सङ्कीर्त्तन में नाम के प्रतिपद में, यहां तक कि प्रति अक्षर में भी पूर्ण अमृत का आस्वादन प्राप्त होता है—और समस्त देह मन, शरीर का प्रति अणु-परमाणु मानो प्लावित हो उठता है—परम स्निग्धता प्राप्त करता है। ऐसे श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन की जय हो।

रथयात्रा के उपलक्ष्य में श्रीमहाप्रभु के दर्शन करने के लिए गौड़ीय भक्तगण नीलाचल गए थे। उनको साथ लेकर श्रीजगन्नाथ जी के मन्दिर की प्रदक्षिणा करते-करते उन्होंने नाम-सङ्कीर्त्तन आरम्भ किया। प्रातःकाल से लेकर तीसरे प्रहर तक अविश्रान्त भाव से प्रभु ने नृत्य-कीर्त्तन किया। बाह्य-स्मृति उन्हें नहीं थी। तीसरे प्रहर में भी उनका आवेश कम नहीं हुआ। गायक एवं वादकगण श्रान्त-क्लान्त हो गए। उनमें और कीर्त्तन

चलाने की शक्ति नहीं रही। किन्तु प्रभु पूर्ण उद्यम से नृत्य-कीर्त्तन में विभोर हो रहे थे। श्रीनित्यानन्द आदिक ने कौशलपूर्वक कीर्त्तन बन्द कराया था।

रूप-माधुर्य का आस्वादन—श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए लालायित होकर श्रीराधा जिस भाव से श्रीकृष्ण के रूपादि का वर्णन कर सखियों के सामने प्रलाप करती हैं, राधाभावाविष्ट श्रीमहाप्रभु भी उसी प्रकार करते थे।

शारदीय महारास में श्रीकृष्ण के अन्तर्हित हो जाने पर गोपियों के चित्त में जो भाव उदय हुआ था, उसी भावावेश में प्रभु समुद्र-तीर के निकट एक उपवन में चांदनी रात में भ्रमण करते-करते लता-वृक्षों से श्रीकृष्ण का पता पूछने लगे थे। श्रीमहाप्रभु उपवन को वृन्दावन एवं समुद्र को यमुना जान रहे थे। एकदम उन्होंने देखा—एक कदम्ब वृक्ष के नीचे खड़े हैं—

कोटि मन्मथ मोहन मुरली वदन।
अपार सौन्दर्य हरे जगन्नेत्र-मन॥

देखते ही प्रभु मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। सब अङ्गों में कृष्ण-प्रेम के सात्विक भाव उछल पड़े। "**अन्तरे आनन्द आस्वाद, बाहिरे विह्वल।**"—ऐसे समय में प्रभु के साथ श्री स्वरूपदामोदरादि प्रभु की खोज करते हुए वहां आ पहुँचे। उनकी चेष्टाओं से प्रभु की मूर्च्छा तो भङ्ग हो गई किन्तु पूर्ण-भाव से बाह्य-स्मृति न लौटी। अर्द्ध बाह्य अवस्था में—"**उठिया चौदिके प्रभु करे दरशन।**"—उठकर चारों ओर प्रभु देखने लगे। ऐसा लगता था कि वे किसी को खोज रहे हैं। और मुख से वे बोल रहे थे—

काहाँ गेल कृष्ण, एखनि पाइलूँ दर्शन।
ताहार सौन्दर्ये मोर हरिल नेत्र मन॥
पुन केने ना देखिये मुरलीवदन।
ताहार दर्शन-लाभे भ्रमये नयन॥

—श्रीकृष्ण कहां गए? मैंने अभी तो उन्हें देखा था। उनके सौन्दर्य ने हाय! हाय! मेरे नेत्र एवं मन को हर लिया है। फिर वे मुरलीवदन क्यों नहीं दीखते हैं? उनके दर्शनों के लिए मेरे नेत्र घूम रहे हैं।—इस अवस्था में श्रीमहाप्रभु के मुख से निम्नलिखित प्रलापोक्ति स्फुरित होने लगी—

नवघन-स्निग्धवर्ण, दलिताञ्जन चिक्कण,
इन्दीवर-निन्दि सुकोमल।
जिनि उपमानगण, हरे सभार नेत्र-मन,
कृष्ण कान्ति परम प्रबल॥
कहि सखि! कि करि उपाय।
कृष्णाद्भुत बलाहक, मोर नेत्र चातक,
ना देखि पियासे मरि जाय॥
सौदामिनी पीताम्बर, स्थिर नहे निरन्तर,
मुक्ताहार बक पांति भाल।
इन्द्रधनु शिखि पाखा, ऊपरे दियाछे देखा,
आर धनु वैजयन्ती माल॥
मुरलीर कलध्वनि, मधुर गर्ज्जन शुनि,
वृन्दावने नाचे मोर चय।
अकलङ्क-पूर्णकल,लावण्य ज्योत्स्ना झलझल,
चित्र चन्द्रेर याहाते उदय॥
लीलामृत वरिषणे, सिञ्चे चौद्द भुवने,
हेन मेघ जबे देखा दिल।
दुर्दैव-झञ्झा-पवने, मेघ निल अन्य स्थाने,
मरे चातक, पीते ना पाइल॥

श्री चै० च० ३. १५. ५६-६०

श्रीकृष्ण के एक बार दर्शन देकर अन्तर्हित हो जाने से मानो अतृप्त वासनावश कुछ फिर लुब्ध होकर प्रभु फिर कहते हैं—

कृष्ण जिति पद्मचान्द, यातियाछे मुख फांद,
ताते अधर-मधुस्मित चार।
व्रजनारी आसि आसि, फान्दे पड़ि हय दासी,
छाड़ि निज पति-घर-द्वार॥
बान्धव! कृष्ण करे व्याधेर आचार।
नाहि गणे धर्माधर्म, हरे नारी-मृगी मर्म,
करे नाना उपाय ताहार॥
गण्डस्थल झलमल, नाचे मकर-कुण्डल,
सेइ नृत्ये हरे नारीचय।

सस्मित कटाक्ष-बाणे, ता-सभार हृदये हाने,
नारीवधे नाहि किछु भय ॥
अति उच्च सुविस्तार, लक्ष्मी-श्रीवत्स-अलङ्कार,
कृष्णेर ये डाकातिया वक्ष ।
व्रजदेवी लक्ष लक्ष, ता-सभार मनोवक्ष,
हरिदासी करिवारे दक्ष ॥
सुवलित दीर्घार्गल, कृष्णभुज-युगल ।
भुज नहे—कृष्ण सर्पकाय ।
दुइ शैलछिद्रे पैशे, नारीर हृदये दंशे,
मरे नारी से विषज्वालाय ॥
कृष्ण-कर-पदतल, कोटि चन्द्र सुशीतल,
जिति कर्पूर वेणामूल चन्दन ।
एक बार यारे स्पर्शे,स्मर-ज्वाला विष नाशे,
यार स्पर्शे लुब्ध नारीर मन ॥

श्री चै० च० ३. १५. ६२-६७

श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद, उनके दर्शनों के लिए उत्कण्ठित होकर श्रीराधा ने अपनी सखी श्री विशाखा से श्रीकृष्ण के विषय में जिस भाव से जिज्ञासा की थी, श्रीराधा के उसी ही भावावेश में श्रीप्रभु ने भी श्री रायरामानन्द के कण्ठ को धारण कर कहा था—

ब्रजेन्द्र कुल दुग्ध सिन्धु, कृष्ण ताते पूर्ण इन्दु,
जन्मि कैल जगत उजोर ।
कान्तामृत येवा पिये, निरन्तर पिया जीये,
व्रजजनेर नयन-चकोर ॥
सखि हे ! कोथा कृष्ण कराह दर्शन ।
क्षणेक याँहार मुख, ना देखिले फाटे बुक,
शीघ्र देखाओ, ना रहे जीवन ॥
एइ ब्रजेर रमणी, कामार्क-तप्त-कुमुदिनी,
निज करामृत दिया दान ।
प्रफुल्लित करे येइ, काहाँ मोर चन्द्र सेइ,
देखाओ सखि! राख मोर प्राण ॥

काहाँ से चूड़ार ठान, शिखिपिच्छेर उड़ान,
नव मेघे येन इन्द्रधनु ।
पीताम्बर तड़िद्द्युति, मुक्तामाला बकपांति,
नवाम्बुद जिनि श्याम तनु ॥
एक बार यार नयने लागे, सदा तार हृदये जागे,
कृष्ण तनु येन आम्र-आठा ।
नारीर मन पैशे हाय, यत्ने नाहि बाहिराय,
तनु नहे—सेयाकुलेर कांटा ॥
जिनिय तमालद्यति, इन्द्रनील सम कान्ति,
सेई कान्ति जगत माताय ।
शृङ्गार-रस छानि, ताते चन्द्रज्योत्स्ना सानि,
जानि विधि निरमिल ताय ॥
काहाँ से मुरलीध्वनि, नवाभ्र-गर्जन जिनि,
जगदाकर्षे श्रवणे याहार ।
उठि धाय व्रजजन, तृषित चातकगण,
आसि पिये कान्त्यमृत धार ॥
मोर सेइ कलानिधि, प्राणरक्षा महोषधि,
सखि ! मोर तेंहों सुहृत्तम ।
देह जीये तांहा बिने, धिक एइ जीवने,
विधि करे एत बिड़म्बन ॥

श्री चै० च० ३. १६. ३४-४१

कृष्णगुण-माधुर्य का आस्वादन—एक दिन प्रभु श्रीजगन्नाथ का दर्शन कर रहे थे। श्रीराधा के भाव में आविष्ट होकर उन्होंने श्रीजगन्नाथ को साक्षात् मुरलीधारी श्रीकृष्ण के रूप में देखा। उन्हें श्रीजगन्नाथ के विग्रह स्वरूप के दर्शन ही न हुए। श्रीजगन्नाथ को मुरलीधारी श्रीकृष्ण रूप में देखते ही—

एकि बारे स्फुरे प्रभुर कृष्णेर पञ्चगुण ।
पञ्चगुणे करे पञ्चेन्द्रिय आकर्षण ॥
एक मन पञ्चदिके पञ्चगुणे टाने ।
टानाटानि प्रभुर मन हैल अगेयाने ॥

श्री चै० च० ३. १५. ७-८

—श्रीकृष्ण के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द—इन पांचों गुणों को आस्वादन करने के लिए प्रभु ने नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वक्—इन पांचों इन्द्रियों में एक साथ उत्कण्ठामयी लालसा जाग उठी। तब लालसा की ताड़ना में अधीर होकर भावावेश में प्रभु इस प्रकार प्रलाप करने लगे—

कृष्ण - रूप - शब्द - स्पर्श, सौरभ्य अधर रस,
यार माधुर्य कहन न जाय।
देखि लोभि पञ्चजन, एक अश्व मोर मन,
चढ़ि पञ्च पांच दिगे धाय॥
सखि हे! शुन मोर दुःखेर कारण।
मोर पञ्चेन्द्रियगण, महालम्पट दस्युपण,
सभे करे हरे परधन॥
एक अश्व एक क्षणे, पांचे पांच दिगे टाने,
एक मन कोन् दिके जाय।
एक काले सभे टाने, गेल घोड़ार पराणे,
एइ दुःख सहन ना जाय॥
इन्द्रिय ना करि रोष, इहा सभार काहाँ दोष,
कृष्ण रूपादि महा आकर्षण।
रूपादि पांच पांचे टाने, गेल पाँचेर प्राणे,
मोर देहे ना रहे जीवन॥
कृष्णरूपामृत सिन्धु, ताहार तरङ्गबिन्दु,
एक बिन्दु जगत डुबाय।
त्रिजगते यत नारी, तार चित्त उच्च गिरि,
ताहा डुबाय आगे उठि धाय॥
कृष्णेर वचन माधुरी, नानारस नर्मधारी,
तार अन्याय कहन ना जाय।
जगतेर नारीर काणे, माधुरी गुणे बान्धि टाने,
टानाटानि काणेर प्राण जाय॥
कृष्ण अङ्ग सुशीतल, कि कहिब तार बल,
छटाय जिने कोटीन्दु चन्दन।

सशैल नारीर वक्ष, ताहा आकर्षिते दक्ष,
आकर्षये नारीगण मन॥
कृष्णाङ्ग - सौरभ्यभर, मृगमद मद हर,
नीलोत्पलेर हरे गर्वधन।
जगत-नारीर नासा, तार भितर करे वासा,
नारीगणेर करे आकर्षण॥
कृष्णेर अधरामृत, ताते कर्पूर मन्दस्मित,
स्वमाधुर्ये हरे नारीमन।
छाड़ाय अन्यत्र लोभ, न पाइले मने क्षोभ,
व्रजनारी गणेर मूलधन॥

श्री चै० च० ३. १५. १३-२१

लीला-माधुर्य का आस्वादन—

एक दिन महाप्रभु करियाछेन शयन।
कृष्ण रासलीला करे देखेन स्वपन॥
त्रिभङ्ग सुन्दर देह मुरलीवदन।
पीताम्बर बनमाला मदनमोहन॥
मण्डली बन्धे गोपीगण करेन नर्त्तन।
मध्ये राधासह नाचे व्रजेन्द्रनन्दन॥
देखि प्रभु सेइ रसे आविष्ट हइला।
'वृन्दावने कृष्ण पाइलूँ'—एइ ज्ञान हैला॥
प्रभुर बिलम्ब देखि गोविन्द जागाइला।
जागिले 'स्वप्न'-ज्ञान हैल, प्रभु दुखी हैला॥
देहाभ्यास नित्य कृत्य करि समापन।
काले याइ कैल जगन्नाथ दरशन॥

श्री चै० च० ३. १४. १५-२०

तब भी उनका आवेश नहीं हटा; उन्होंने श्रीजगन्नाथ को ही साक्षात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के रूप में देखा—

जगन्नाथे देखे—साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन।

उस समय वे सुभद्रा तथा बलराम को नहीं देख पाये। केवल श्रीजगन्नाथ के ही दर्शन किये—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के रूप में। कुछ देर

बाद किसी कारणवश प्रभु में एक दूसरा भाव जाग उठा, तब उन्हें सुभद्रा एवं बलराम जी के दर्शन हुए। किन्तु श्रीकृष्ण के साथ सुभद्रा और बलराम ब्रज में श्रीराधा जी ने एक साथ कभी नहीं देखे। श्रीराधा ने इन्हें एक साथ श्रीकृष्ण के सहित कुरुक्षेत्र में ही देखा था। उस समय श्रीराधा के मन में जो भाव उदय हुआ था, सुभद्रा-बलराम को देखकर श्रीमन्महाप्रभु का मन भी उसी भाव में आविष्ट हो उठा। उन्हें ऐसा लगा कि मैं कुरुक्षेत्र में ही श्रीकृष्ण के दर्शन कर रहा हूँ।

काँहा कुरुक्षेत्र आइलाङ, काँहा वृन्दावन।

उन्होंने सोचा—'यह क्या हुआ ? अभी तक तो मैं श्रीकृष्ण के साथ वृन्दावन में था। यहां यकायक कुरुक्षेत्र में कैसे ? कुरुक्षेत्र कहां से आ गया ? और मैं ही यहां कैसे आ गया ? श्रीवृन्दावन कहां गया ? तब वे बोले—

प्राप्त रत्न हाराइल-ऐछे व्यग्र हैला।
विषण्ण हइया प्रभु निज वासा आइला॥
भूमिर ऊपर वसि निज नखे भूमि लेखे।
अश्रु गङ्गा नेत्रे बहे किछु नाहि देखे॥
पाइलुँ वृन्दाबन-नाथ, पुन हाराइलुँ।
के मोर निलेक कृष्ण, कोथा मुइ आइलुँ॥

श्री चै० च० ३. १४. ३३-३५

फिर भी प्रभु का आवेश नहीं छूटा। सारा दिन उनका इसी भाव में कट गया। रात के समय श्रीस्वरूप दामोदर तथा श्रीरायरामानन्द के सामने अपने मन की दुख-कथा को प्रकाश किया।

और एक दिन प्रभु समुद्र-स्नान के लिए जा रहे थे, साथ में था गोविन्द। रास्ते में चटक पर्वत को देखकर उसे गोवर्द्धन गिरि जानकर उसी ओर लम्बी-लम्बी सांस भरते हुए भाग पड़े।

प्रथमे चलिला प्रभु येन वायुगति।
स्तम्भ पथे हैल, चलिते नाहि शक्ति॥
प्रति रोमकूपे मांस व्रणेर आकार।
तार ऊपरे रोमोद्गम कदम्ब प्रकार॥

प्रति रोमे प्रस्वेद पड़े रुधिरेर धार।
कण्ठ घर्घर-नाहि वर्णेर उच्चार॥
दुइ नेत्र भरि अश्रु बहे अपार।
समुद्र मिलिल येन गङ्गा-यमुना-धार॥
वैवर्ण्य शङ्ख प्राय श्वेत हैल अङ्ग।
तबे कम्प उठे येन समुद्र तरङ्ग॥
कांपिते कांपिते प्रभु भूमिते पड़िला।
तबे त गोविन्द प्रभुर निकट आइला॥

श्री चै० च० ३. १४. ८५-९०

गोविन्द प्रभु के मुख पर जल सेचन करने लगा। चारों ओर कोलाहल मच गया। सुनकर श्रीस्वरूप दामोदरादि वहां आ पहुँचे। उन्होंने बहुत देर तक उच्च सङ्कीर्त्तन किया। तब कहीं 'हरि-बोल' कहकर प्रभु उठ कर बैठ गए, किन्तु उन्हें बाहर की सुध-बुध नहीं थी।

उठि महाप्रभु विस्मित इति उति चाय।
ये देखिते चाहे, ताहा देखिते ना पाय॥

वहां लोगों को देखकर प्रभु को कुछ बाह्य-ज्ञान हुआ और बोले—

गोवर्द्धन हैते मोरे के इहाँ आनिल।
पाइया कृष्णेर लीला देखिते ना पाइल॥
इहाँ हैते आजि मुजि गेलूँ गोवर्द्धन।
देखों यदि कृष्ण करे गोचारन॥
गोवर्द्धने चड़ि कृष्ण बाजाइला वेणु।
गोवर्द्धनेर चौदिके चरे सब धेनु॥
वेणुनाद शुनि आइला राधा ठाकुराणी।
तार रूप भव्य सखि! वर्णिते न जानि॥
राधा लञा कृष्ण प्रवेशिला कन्दराते।
सखीगण कहे मोके फूल उठाइते॥
हेन काले तुमि सब कोलाहल कैला।
ताहाँ हैते धरि मोरे इहाँ लञा आइला॥

केन वा आनिले मोरे वृथा दुख दिते।
पाइया कृष्णेर लीला ना पाइलुँ देखिते ॥*

श्री चैं० च० ३. १४. ९९-१०६

इतना कहकर प्रभु रोने लगे थे। इसी प्रकार भावावेश में प्रभु ने रास के अन्त में होने वाली जल-केलि का भी एक बार दर्शन किया था। लीला ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि श्रीराधा कभी-कभी अपने को ललिता जी और ललिता जी को श्रीराधा रूप में जानने लग जाती थीं और उसी प्रकार व्यवहार भी करने लगतीं। इसे पारिभाषिक भाषा में दिव्योन्माद की 'उद्घूर्णा' कहा जाता है। उद्घूर्णा के कारण ही राधाभावाविष्ट प्रभु ने उल्लिखित प्रलापोक्ति में अपने को राधा कहकर नहीं माना। उस समय भी उनमें श्रीराधा का भाव ही विद्यमान था, उनके अङ्गों में सात्त्विक विकारों का होना ही इसका प्रमाण है। प्रेमावेश में सात्त्विक विकार श्रीराधा को छोड़कर और दूसरों को भी होते हैं, किन्तु श्रीराधा के बिना और किसी में सुदीप्त सात्त्विक विकार नहीं देखे जाते। इस विषय की बाद में आलोचना करेंगे।

इससे स्पष्ट है कि श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन किया और श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन से कैसा सुख मिलता है, माधुर्य आस्वादन कर उसे भी उन्होंने प्राप्त किया। इस प्रकार उन्होंने ब्रजलीला की तीन अपूर्ण वासनाओं में से दो को पूर्ण किया।

श्रीराधा के प्रेम की महिमा को जानने की वासना को प्रभु ने किस प्रकार पूर्ण किया, अब उसकी आलोचना की जाती है।

श्रीराधा-प्रेम-महिमा का आस्वादन

१—रायरामानन्द के साथ साध्य-साधन-तत्व की आलोचना के प्रसङ्ग में श्रीमन्महाप्रभु ने रायरामानन्द के मुख से राधाप्रेम की एक

* ग्रन्थ-कलेवर के बढ़ जाने के भय से उल्लिखित बङ्गला पयारों का हिन्दी अनुवाद और इन प्रलापोक्तियों की विवृति यहां प्रकाशित नहीं की गई है। उसके लिए मण्डल द्वारा प्रकाशित श्रीचैतन्य चरितामृत हिन्दी संस्करण का पाठकगण अवलोकन करें।

महिमा-वैचित्री को प्रकाशित कराया। रायरामानन्द ने कहा— दास्यप्रेम से सख्यप्रेम की, सख्यप्रेम से वात्सल्यप्रेम की एवं वात्सल्य-प्रेम की अपेक्षा कान्ता-प्रेम की महिमा अति अधिक है। कान्ता-प्रेम में श्रीराधा का प्रेम सर्वातिशायी है। ब्रजगोपियों के सामने श्रीकृष्ण ने उनके अपरिशोध्य प्रेम-ऋण में ऋणी होने की बात अपने मुख से ही व्यक्त की है **'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजामित्यादि'**—वाक्य में। किन्तु श्रीराधा के आगे उनकी प्रेम-वश्यता सब से अधिक है। श्रीकृष्ण अद्वयज्ञानतत्व हैं, सर्वांशी एवं सर्वाश्रय हैं; तथापि वे जो श्रीराधा की प्रेम-वश्यता में, श्रीराधा के प्रेम रूप नट के हाथ में मानो पुतली की तरह नाचते हैं—इससे श्रीराधा के प्रेम की एक अपूर्व विशेषता सूचित होती है। रायरामानन्द ने और भी जनाया है कि श्रीकृष्ण के रसस्वरूपत्व का एवं उनके मदनमोहनत्व का कारण भी श्रीराधा का प्रेम है। श्रीराधा-प्रेम अन्य निरपेक्ष है—किसी की परवाह नहीं करता। अपने प्रेम के प्रभाव से श्रीराधा ही रसेश्वरी हैं। रासस्थली में श्रीराधा के अनुपस्थित होने पर और और शतकोटि गोपियों के उपस्थित रहने पर भी परमरस-कदम्बमयी रास-लीला न हो सकी। यहाँ तक कि रासलीला की वासना भी श्रीकृष्ण के हृदय से अन्तर्हित हो जाती है। श्रीराधा के प्रेम-प्रभाव से ही श्रीश्रीराधाकृष्ण का विलास महत्व है; श्रीकृष्ण का धीर-ललितत्व एवं दोनों का प्रेम-विलास विवर्त्त है, जिस प्रेम-विलास-विवर्त्त में श्रीराधा-कृष्ण की परैक्य प्राप्ति है। रामानन्द के मुख से यह सब बात सुनकर श्रीमहाप्रभु ने कहा था— "राधाप्रेम साध्य-शिरोमणि।" श्रीमहाप्रभु ने प्रेमाविष्ट होकर ही राधाप्रेम की विशेषता की यह बात सुनी थी और परमानन्द का भी अनुभव किया था, जिस पर उन्होंने कहा—रामानन्द ! **"अपूर्व अमृत नदी बहे तोमार मुखे।"**

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने राधाप्रेम की एक महिमा-वैचित्री का आस्वादन किया। किन्तु आनन्ददायक होते हुए भी यह है तात्विक-महिमा। प्रभु के चित्त में आनन्द उत्पन्न कर यह तात्विक-महिमा एक प्रभाव का विस्तार करते हुए भी यही राधाप्रेम की केवल महिमा नहीं है। प्रभु के चित्त और शरीर पर राधाप्रेम का क्या अपूर्व प्रभाव प्रकट हुआ, उस की अब आलोचना करते हैं—

(२) प्रेम की महिमा दो तरह से अभिव्यक्त हो सकती है, आस्वादन-माधुर्य से और शरीर पर उसके प्रभाव से। पहले यह कहा जा चुका है कि—

प्रेम है ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति। इसलिए स्वतः ही यह मधुर है, आस्वाद्य है। प्रेम जितना ही गाढ़ा हुआ करता है, उसका आस्वाद्यत्व, माधुर्य उतना ही बढ़ता जाता है। श्रीराधा का मादनाख्य प्रेम ही है प्रेम की गाढ़तम अवस्था—अनुरागोत्कर्ष का परमतम विकाश। इसलिए श्रीराधाप्रेम का माधुर्य भी सर्वातिशायी है। प्रेम जब गाढ़ता प्राप्त करते करते महाभाव के स्तर पर पहुँचता है, तब वह एक अनिर्वचनीय माधुर्य धारण करता है। यह स्वर्ग के अमृत की अपेक्षा भी कोटि कोटि गुण अधिक मधुर है। ऐसा लगता है स्वर्ग का अमृत भी महाभाव के माधुर्य को धारण कर कृतार्थ होना चाहता है। इस प्रकार का जो माधुर्य है वह है महाभाव की स्वरूपगत सम्पत्ति। इसलिए उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में महाभाव को **'रसामृत-स्वरूपश्री'** कहा गया है। ऐसे महाभाव की ही गाढ़तम अवस्था है श्रीराधा का मादनाख्य-प्रेम। अतएव मादन-प्रेम का माधुर्य निःसन्देह सर्वातिशायी है।

यह भी पहले कह चुके हैं कि —ह्लादिनी कहने से ह्लादिनी-प्रधान स्वरूप-शक्ति से तात्पर्य है। उस में ह्लादिनी जैसे विद्यमान हैं, संवित् भी उसी प्रकार विद्यमान है; हां, ह्लादिनी की प्रधानता रहती है। यह ह्लादिनी अंश ही प्रेम मधुर है जिसका संवित्-अंश के द्वारा अनुभव होता है।

राधाप्रेम की माधुर्यातिशय-रूप महिमा का अनुभव

मादन जिस अनुरागोत्कर्ष का चरमतम विकाश है, उसके तीन स्वरूप हैं— भाव, करण एवं कर्म। भावस्वरूप में वह अनुरागोत्कर्ष है, आनन्दांश में श्रीकृष्णानुभवरूप। अनुराग की उत्कर्ष अवस्था में जब बलवती उत्कण्ठा के साथ श्रीकृष्ण-माधुर्यादि का अनुभव होता है, तब माधुर्यादि के अतिशय आस्वादन में आस्वादक इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपनी स्मृति भी नहीं रहती। आस्वाद्य माधुर्यादि की भी स्मृति नहीं रहती, रहता है केवल आस्वादन का और अनुभव का ज्ञान। इस अवस्था में अनुरागोत्कर्ष ही मानो एकमात्र अनुभव में एवं एकमात्र अनुभव के

आनन्द में पर्यवसित होता है। यही ही अनुरागोत्कर्ष का भाव स्वरूप है।

दूसरा है करण-स्वरूप। करण का अर्थ है उपाय, जिसके द्वारा या जिसकी सहायता से कोई कार्य किया जाए, वही उस कार्य का करण कहलाता है। जैसे लाठी द्वारा किसी को मारना। इस जगह लाठी मारने का करण है। संविदंश में अनुरागोत्कर्ष द्वारा श्रीकृष्ण-माधुर्यादि आस्वादन किया जाता है—

प्रौढ़ निर्मल भाव प्रेम सर्वोत्तम।
कृष्णेर माधुरी आस्वादनेर कारण॥

—श्री चै० चरितामृत १।४।४४

इसलिए अनुरागोत्कर्ष ही श्रीकृष्ण के माधुर्यादि के आस्वादन करने का करण है। यही अनुराग जब सर्वोत्कर्ष अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसके द्वारा श्रीकृष्ण के माधुर्यादि भी सर्वोत्कर्ष रूप से आस्वादित होते हैं। श्रीकृष्ण माधुर्यादि सर्वोत्कर्ष रूप से आस्वादन करने के कारण रूप में अनुरागोत्कर्ष ही करण है।

तीसरा है कर्म-स्वरूप। जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। जिसे आस्वादन किया जाय, वह हुआ आस्वादन का कर्म। अनुरागोत्कर्ष द्वारा जैसे श्रीकृष्ण माधुर्यादि आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार फिर श्री-राधामाधुर्यादि के आस्वादन के द्वारा भी अनुरागोत्कर्ष का अनुभव किया जाता है। श्रीचैतन्य चरितामृत [१।४।१५७-५८] में कहा गया है—

गोपीगण करे जबे कृष्णदरशन।
सुख-वाञ्छा नाहि, सुख हय कोटिगुण॥
गोपिका-दर्शने कृष्णेर ये आनन्द हय।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय॥

गोपियों का यह जो आनन्द है, वह है श्रीकृष्ण-माधुर्य आस्वादन के प्रभाव से अपने अनुरागोत्कर्ष का अनुभव रूप आनन्द। श्रीकृष्ण के दर्शन से उनके हृदय में रहने वाला प्रेम या अनुरागोत्कर्ष उच्छलित हो उठता है, उसी उच्छलित अनुरागोत्कर्ष का अनुभव ही है यह आनन्द या अनुरागोत्कर्ष के ह्लादिनी-अंश का अनुभवजनित आनन्द। अनुराग के प्रभाव

से श्रीकृष्ण का असमोर्ध्व माधुर्य वृद्धि को प्राप्त होता है और श्रीकृष्ण माधुर्य के आस्वादन के प्रभाव से ही आनन्दोत्कर्ष असमोर्ध्व रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ करता है। यह बात श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीकृष्ण की मुखोक्ति से प्रकाश की है—

मन्माधुर्य राधाप्रेम दोंहे होड़ करि।
अन्योन्ये बाढ़ये केहो मुख नाहि मुड़ि॥

—श्री चै०चरितामृत १।४।१२४

इस प्रकार मादनाख्यभाव के अनुभव से पैदा हुआ जो आनन्द है, वही ही सर्वातिशायी है। राधाभावाविष्ट श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीकृष्णमाधुर्य को आस्वादन करने के उपलक्ष्य से राधाप्रेम मादनाख्य के आस्वादन-जनित अनिर्वचनीय आनन्द को अनुभव कर राधाप्रेम की माधुर्यातिशय महिमा-वैचित्री की उपलब्धि की।

श्रीमन्महाप्रभु के शरीर पर राधाप्रेम का प्रभाव

एक दिन रात के समय प्रभु गम्भीरा से बाहर निकल आए, इस बात को और कोई भी नहीं जान सका। श्रीस्वरूपदामोदरादि बाद में यह जान कर उनकी खोज करते हुए जगन्नाथ के सिंह द्वार पर आये और वहां प्रभु को देखा—वे भूमि पर पड़े हुए थे और उनके शरीर की अद्भुत अवस्था थी—

प्रभुर पड़ियाछे दीर्घ—हात पाँच छय।
अचेतन देह, नासाय श्वास नाहि बय॥
एकेक हस्तपद—दीर्घ तिन तिन हात।
अस्थि-ग्रन्थि भिन्न, चर्म आछे मात्र तात॥
हस्त-पद ग्रीवा कटि अस्थि सन्धि यत।
एकेक वितस्ति भिन्न हइयाछे तत॥
चर्म मात्र उपरे सन्धिर आछे दीर्घ हञा।
दुःखित हइला सभे प्रभुके देखिया॥
मुखे लाला फेन प्रभुर उत्तान नयन।
देखितेइ सब भक्तेर देहे छाड़े प्राण॥

—श्रीचै० चरितामृत ३।१४।६०-६४

श्रीमन्महाप्रभु का अचेतन शरीर पृथ्वी पर पड़ा हुआ है और यह पांच छय हाथ लम्बा हो गया है। उनका सांस आ जा नहीं रहा है। एक-एक हाथ-पांव उनका तीन-तीन हाथ लम्बा होगया है। अस्थियों की ग्रन्थियां भिन्न-भिन्न होगयी हैं; केवल चर्म मात्र ही रह गया है। हाथ-पांव गर्दन, कमर के जितने अस्थि-जोड़ हैं, वे खुल कर एक एक बालिश्त भर हट गए हैं। जोड़ों पर केवल चर्म ही लम्बा होकर लटक रहा है। प्रभु को इस अवस्था में देखकर श्रीस्वरूपदामोदरादि सब भक्तगण अतीव दुखी हो उठे। प्रभु के मुँह से लार और झाग निकल रहा था, उनके नेत्र ऊपर चढ़ गए थे—यह सब देखते ही सब भक्तों के प्राण मानों शरीर से निकल गए।

श्रीस्वरूपदामोदर ने बहुत देर तक प्रभु के कानों में उच्चस्वर से श्रीकृष्ण-नाम सुनाया, तब कहीं प्रभु को चेतना हुई। तब अपने को सिंह-द्वार पर देख कर प्रभु चकित हो उठे और स्वरूपदामोदर से पूछने लगे—"यहां क्या कर रहे हो?" उन्होंने कहा—'प्रभु! घर पर चलिये, वहाँ सब बताऊँगा।' प्रभु को लेकर वे गम्भीरा पर आए और प्रभु को उनकी सब अवस्था कह सुनाई। तब प्रभु बोले—

प्रभु कहे—किछु स्मृति नाहिक आमार।
सबे देखि, हय मोर कृष्ण विद्यमान।
विद्युत्प्राय देखा दिया करे अन्तर्धान॥

श्री चै० चरितामृत ३।१४।७२-७३

श्रीमहाप्रभु ने कहा—"मुझे तो कुछ भी स्मृति नहीं है। मैं ने केवल यही देखा कि श्रीकृष्ण मेरे सामने खड़े हैं। किन्तु बिजली के समान एक चमक सी दिखा कर वे फिर अन्तर्धान हो गए॥"

और एक दिन यमुना में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की जलकेलि-लीला के दर्शनों के भाव में आविष्ट होकर श्रीमहाप्रभु यमुना के भ्रम से समुद्र में कूद पड़े। चान्दनी रात थी। साथ के भक्तों को कुछ भी पता नहीं लगा। सारी रात वे प्रभु की खोज करते रहे। समुद्र में गिरकर प्रभु मूर्च्छित हो गए एवं नितान्त बेसुध होगए। सूखी लकड़ी की भांति समुद्र की

तरङ्गों के साथ कभी ऊपर और कभी डूबे जा रहे थे। तरङ्गे उन्हें कोणार्क की ओर ले गईं।

यमुनाते जलकेलि गोपीगण सङ्गे।
कृष्ण करे—महाप्रभु मग्न एइ रङ्गे॥

'यमुना में श्रीकृष्ण व्रजगोपियों के साथ जल-केलि कर रहे हैं'—बस इसी भाव में वे मग्न थे। अचानक एक धीवर के जाल में वे फंस गए। बड़ी मछली जानकर धीवर ने प्रभु को जाल सहित खींच लिया। जाल को छोड़ते समय प्रभु का स्पर्श पाते ही वह धीवर प्रेमोन्मत हो उठा। 'हरि-हरि' बोलकर वह हँसने, रोने, नाचने एवं गाने लगा। धीवर ने ऐसा जाना कि उसे भूत ने पकड़ लिया है। प्रभु को समुद्र के किनारे रेती में छोड़कर वह ओझा के पास ही जारहा था कि रास्ते में खोज करते हुए श्रीस्वरूपदामोदरादिक से उसकी भेंट हुई। उस धीवर के अद्भुत आचरण को देख कर श्रीस्वरूपादि ने उसे स्थिर किया और उसकी जबानी सब हाल सुना। वह धीवर तो प्रभु को नहीं जान सका और उसने उन्हें एक मृतक-देह ही समझा था।

श्रीस्वरूपादि जान गए कि, वे श्रीप्रभु ही हैं। धीवर को शान्त कर वे उसके साथ समुद्र के किनारे प्रभु के पास आए। उन्होंने देखा—

भूमि पड़ि आछे प्रभु, दीर्घ सब काय।
जले श्वेततनु, बालु लागियाछे गाय॥
अति दीर्घ शिथिल तनु,, चर्म नरकाय॥

श्री चै० चरितामृत ३।१८।६८-६९

समय के अनुरूप सेवा करने के बाद श्रीस्वरूप ने प्रभु के कानों में उच्चस्वर से श्रीकृष्णनाम सुनाया, जिस से प्रभु को कुछ बाहर की सुध आई एवं शरीर भी स्वाभाविक अवस्था में आ गया।

यह तो बात रही प्रभु के दीर्घ आकृति धारण करने की। कभी-कभी प्रभु कूर्माकृति भी होजाते—कछुवे की भांति उनके सब अङ्ग भीतर ही घुस जाते।

एक दिन रात के समय प्रभु बिना किसी के जाने-सुने गम्भीरा से बाहर निकल गए। श्रीस्वरूपादि उनका अन्वेषण करते करते जगन्नाथ के सिंहद्वार की दक्षिण दिशा में जा पहुँचे। वहां उन्होंने उन्हें तेलङ्गा—गौओं के बीच पड़ा देखा—

पेटेर भितर हस्त-पद-कूर्मेर आकार।
मुखे फेन, पुलकाङ्ग, नेत्रे अश्रुधार॥
अचेतन पड़ि आछे, येन कुष्माण्ड फल।
बाहिरे जड़िया, अन्तरे आनन्द विह्वल॥
गाभी सब चौदिगे शुङ्के प्रभु अङ्ग।
दूर कैले नाहि छाड़े महाप्रभुर सङ्ग॥
अनेक करिल यत्न, ना हय चेतन।
प्रभुरे उठाइया घरे आनिल भक्तगण॥
उच्च करि श्रवणे करे कृष्ण-सङ्कीर्त्तन।
अनेक क्षणे महाप्रभु पाइल चेतन॥
चेतन पाइले हस्त पद बाहिराइल।
पूर्ववत् यथायोग्य शरीर हैल॥

श्री चै० चरितामृत ३।१७।१५-२०

प्रभु के हाथ-पांव कछुए की भांति शरीर के भीतर घुस गए थे एवं मुख से लार टपक रही थी, रोमाञ्च पुलकित थे और नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। अचेतन अवस्था में वे पड़े हुए थे जैसे पेठा का फल। बाहर से तो अचेतन थे किन्तु भीतर वे आनन्द में विह्वल हो रहे थे। चारों ओर से गौएं उनके अङ्गों को सूंघ रही थीं। उन्हें हटाने पर भी वे प्रभु से दूर नहीं हट रही थीं। बहुत यत्न करने पर भी प्रभु को चेतनता नहीं आई। भक्त-गण प्रभु को उठाकर ही घर पर ले आए और उच्चस्वर से कानों में कृष्ण-संकीर्त्तन किया। बहुत देर के बाद प्रभु को कहीं चेतनता आई। तब उनके हाथ-पांव शरीर से बाहर निकल आए और उनका शरीर पूर्ववत् यथायोग्य हुआ।

प्रभु उठ बैठे और इधर उधर देखने लगे। श्रीस्वरूप से बोले—'तुम मुझे यहां क्यों ले आए? वंशी ध्वनि सुनकर मैं तो वृन्दावन गया

था। वहां जाकर मैंने देखा—गोष्ठ में ब्रजेन्द्रनन्दन वंशी बजा रहे थे। वंशी-ध्वनि के संकेत से उन्होंने श्रीराधा को कुञ्जों में बुला लिया। फिर वे उनके साथ क्रीड़ा करने के लिए कुञ्ज में चले गए। मैं भी उनके पीछे पीछे चला गया। उनके भूषणों की झंकार ने मेरे कानों को मोहित कर लिया। वे गोपियों के साथ बिहार एवं हास परिहास कर रहे थे। उनकी मधुर कण्ठ-ध्वनि सुनकर मेरे कान सुशीतल हो रहे थे—इतने में तुम लोगों ने कोलाहल मचा दिया और मुझे जबरदस्ती उठा कर यहाँ ले आए।"

इसप्रकार राधाभावाविष्ट प्रभु के शरीर का दीर्घाकार एवं कूर्माकार हो जाना, उनके शरीर पर राधाभाव के एक अपूर्व प्रभाव को सिद्ध करता है। समुद्र में जब प्रबल ज्वार-भाटा उठता है, तब वह समुद्र के साथ आकर मिलने वाले नदी-नालों में भी बाढ़ ला देता है और किनारे की भूमि को भी प्लावित कर देता है, रास्ते में खड़े बड़े-बड़े वृक्षों को भी जड़ से उखाड़ कर स्रोत में बहा ले जाता है। वही ज्वार-भाटा जब समुद्र की तरफ लौटता है तो उन वृक्षादिकों को समुद्र की तरफ खींच लाता है।

श्रीमन्महाप्रभु के हृदयस्थ श्रीराधा के मादनाख्य-महाभाव की भी ठीक यही अवस्था है। उस प्रेम का समुद्र प्रभु के हृदय में विद्यमान है और अपने रस से प्रभु के देह-इन्द्रियादिक को भी परिषिक्त किये रहता है। यही बात रायरामानन्द के सामने प्रभु ने स्वयं कही थी—

तांर भावे भावित आमि करि आत्ममन।
तबे निज माधुर्यरस करि आस्वादन॥

—"श्रीराधा के भाव—मादनाख्य-महाभाव में अपने देह एवं मन को भावित कर मैं (कृष्ण) निज माधुर्य रस का आस्वादन करता हूँ।"

समुद्र से जुड़े हुए नदी नालों की भाँति प्रभु के चित्तास्थित प्रेम-समुद्र के साथ उनके सर्वाङ्गों में रहने वाला प्रेम-रस भी उसमें जुड़ा हुआ है। श्रीकृष्ण को किसी भो लीला के स्फुरण होने पर प्रभु के हृदय में रहने वाला प्रेम-समुद्र जब उछलता है, वह ज्वार-भाटे का ही रूप धारण कर लेता है। उस समय उसके प्रभाव से प्रभु के सर्वाङ्गों में रहने वाला प्रेम-रस भी उछल कर उस तूफान में मिल जाता है और बाहर की ओर बहने

लगता है, उसकी रफ्तार के साथ प्रभु के अङ्ग प्रति अङ्ग रूप वृक्ष अस्थि-ग्रन्थिरूप जड़ों से मानो उखड़ जाते हैं और उनके अङ्ग-प्रति-अङ्ग उस तूफान के साथ बहे चले जाते हैं। ढीले-ढाले चर्म के बन्धन में वे शरीर के साथ केवल जुड़े रहते हैं। उससे प्रभु का शरीर अद्भुत रूप से दीर्घाकार होजाता है। किसी कारणवश वह प्रेम की तुग्यानी जब हृदय की ओर लौटती है अथवा हृदयस्थित प्रेम समुद्र जब देहस्थित प्रेमरस को अपनी ओर खींचता है, तब उसकी गति के साथ उनके अङ्ग प्रति अङ्ग भीतर की ओर चले जाते हैं, जिससे प्रभु का शरीर एक अद्भुत कूर्माकार धारण कर लेता है।

श्रीमहाप्रभु स्वयं भगवान् एवं सर्वशक्तिमान् हैं, किन्तु राधाप्रेम के उद्दाम प्रभाव में बाधा डालने की सामर्थ्य उनमें भी नहीं है। प्रभु के शरीर के ऊपरी भाग में, प्रभु के श्याम देह को ढक कर मानो रक्षाकारी कवचरूप से श्रीराधा का गौर-देह विद्यमान है। प्रभु के अस्थि-ग्रन्थि का चर्मावरण जब शिथिल या संकुचित होता है, तब उसी उसी स्थान पर श्रीराधा का देह भी निश्चय ही शिथिल या संकुचित होजाता है। मादन-घन-विग्रहा मादन की अधिष्ठात्री श्रीराधा भी क्या अपने प्रेम के प्रभाव का संवरण करने में असमर्थ हैं?

व्रजलीला में अपने चित्त-स्थित मादन-प्रेम के प्रभाव से श्रीराधा के विग्रह का इस प्रकार दीर्घाकार या कूर्माकार होना कहीं नहीं देखा-सुना जाता। कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी ने भी लिखा है—

लोके नाहि देखि ऐछे, शास्त्रे नाहि शुनि।
हेन भाव व्यक्त करे न्यासि-शिरोमणि॥

श्री चै० च० ३।१४।७६

—"संन्यासी-शिरोमणि श्रीकृष्णचैतन्य ऐसे अद्भुत भावों को व्यक्त करते हैं, जिनको न तो कभी जगत् में देखा है और न ही कभी शास्त्रों में सुना है।"

इससे विदित होता है कि व्रजलीला में श्रीराधा अपने प्रेम के प्रभाव को संवरण कर सकती थीं। मादन-प्रेम के प्रभाव को संवरण करने की

सामर्थ्य उन में है। तथापि उनके प्रेम का प्रभाव कितना अद्भुत है उसे जनाकर श्रीकृष्ण एक अपूर्ण वासना को पूर्ण करने के लिए, ऐसे लगता है कि श्रीराधा ने गौर-लीला में उस सामर्थ्य को प्रकटित नहीं किया है। यदि वह प्रकट करतीं तो प्रभु का शरीर इस प्रकार दीर्घाकृति वा कूर्माकृति धारण न करता और प्रेम का यह अद्भुत प्रभाव भी श्रीकृष्ण के लिए अज्ञात रहता। अथवा यह भी हो सकता है कि गौर-लीला में श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण की सम्मिलित बलवती उत्कण्ठा है। श्रीकृष्ण के माधुर्य आस्वादन करने के लिए तो गौरकृष्ण की बलवती उत्कण्ठा है और उस माधुर्य को आस्वादन कराकर प्राणवल्लभ की वासना को पूरण करने के लिए श्रीराधा की बलवती उत्कण्ठा है। इन दोनों की सम्मिलित उत्कण्ठा के फलस्वरूप ही प्रभु का हृदयस्थित प्रेम इतना ही उद्दाम रूप से उछल उठता है कि स्वयं श्रीराधा भी उस के प्रभाव को संवरण करने में असमर्थ हो गई हैं। इस प्रकार अपने देह के ऊपर राधाप्रेम के एक अद्भुत असंवरणीय प्रभाव का अनुभव कर प्रभु राधाप्रेम-महिमा की और एक वैचित्री अनुभव करते हैं।

इस प्रकार प्रभु ने राधाप्रेम-महिमा का आस्वादन कर अपनी एक और भी अपूर्ण वासना को पूरण किया।

सुदीप्त सात्त्विक-भाव व प्रभु का राधास्वरूपत्व

सात्त्विक भाव से प्राकृत सत्त्व से पैदा होने वाले भावों का अभिप्राय नहीं है। सात्त्विक भाव है एक पारिभाषिक शब्द एवं जिस सत्त्व-शब्द से यहां सात्त्विक—शब्द निष्पन्न हुआ है, वह सत्त्व भी एक पारिभाषिक अर्थात् विशेष अर्थ-प्रकाशक शब्द है।

कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किञ्चिद्-वा व्यवधानतः।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः॥

भक्तिरसामृतसिन्धुः २।३।१

—कृष्ण सम्बन्धी भावों द्वारा आक्रान्त चित्त को विद्वानजन **'सत्त्व'** कहते हैं। कृष्ण के साथ यह सम्बन्ध साक्षात् भाव से हो सकता है और किञ्चित् व्यवधानवश भी हो सकता है।

इस से विदित होता है कि सत्त्व शब्द से एक विशेष अवस्थायुक्त चित्त का अभिप्राय है। श्रीकृष्ण के साथ पूर्वोक्तरूप सम्बन्ध के कारण भक्तों के चित्त में जिन समस्त भावों का उदय होता है, उन समस्त भावों द्वारा आक्रान्त होने पर चित्त की इस प्रकार की विशेष अवस्था पैदा होती है।

सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः॥

भक्तिरसामृतसिन्धु २।३।२

इस प्रकार के सत्त्व से (उपर्युक्त विशेष अवस्थापन्न चित्त से) जो समस्त भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें **सात्त्विक-भाव** कहते हैं।

चित्त में कृष्ण-प्रेम या कृष्ण-रति का आविर्भाव होने पर ही श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध पैदा हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए जात-प्रेम या जात-रति भक्त का चित्त ही कृष्ण सम्बन्धी भावों द्वारा आक्रान्त हो सकता है। ये समस्त भाव भी प्रेम से ही उत्पन्न होते हैं। प्रेम से उत्पन्न हुए इन समस्त भावों से जब चित्त आक्रान्त होता है, तब बाहर अर्थात् भक्त के शरीर में भी कई एक लक्षण या चिह्न प्रकाशित होते हैं। इन लक्षणों को कहते हैं **'अनुभाव'**। इन अनुभावों द्वारा ही चित्तस्थित भावों का अस्तित्व जाना जाता है—

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः॥

भक्तिरसामृतसिन्धु २।२।१

चित्तस्थित प्रेम के या प्रेमजात भावों के जो समस्त लक्षण बाहर प्रकाशित होते हैं, उनमें कुछ एक यहां उल्लेख करते हैं—नृत्य, गीत, भूमि पर पछाड़ खाना, चीत्कार, गात्रमोटन (अङ्गराई लेना), हुङ्कार, जृम्भन (उबकाई लेना), दीर्घश्वास, लालास्राव, (लार टपकना) अट्टहास (कहका लगाकर हँसना) इत्यादि तथा अश्रु, कम्प, पुलकादि।

ये समस्त बाहिरे लक्षण भी दो प्रकार के होते हैं, कुछ एक एसे लक्षण हैं,जिन्हें भक्त यदि इच्छा करें, तो उन्हें बाहिर प्रकाश नहीं भी किया जा सकता। जैसे नृत्य, गीत, भूमि पर पछाड़, चीत्कार, हुङ्कारादि। नृत्य-गीतादि की इच्छा चित्त में पैदा हो सकती है, किन्तु भक्त के इच्छा करने पर वह नृत्य गीतादि को नहीं भी कर सकता। इसलिए इन्हें **'बुद्धि मूलक-अनुभाव'** कहा जाता है। और कुछ एक लक्षण ऐसे भी हैं **जो स्वतः स्फूर्त्त** हैं और जब इनका सम्यक् विकाश होता है, तब भक्त के इच्छा करने पर भी वह उन्हें रोक नहीं सकता, जैसे अश्रु, कम्प, पुलक एवं स्तम्भादि।

इस से स्पष्ट है कि समस्त बाह्य-विकार एक ही सत्व से उत्पन्न होते हुए भी उनमें कुछ तो ऐसे हैं बुद्धि पूर्विका प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं और कुछ एक स्वाभाविक हैं

"नृत्यादिनां सत्यपि सत्त्वोत्पन्नत्वे बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिः, स्तम्भादीनां तु स्वत एव प्रवृत्तिरित्यास्य नृत्यादिषु न व्याप्तिः। इति भक्तिरसामृतसिन्धु २।३।२-श्लोक टीका—श्रीजीवगोस्वामी।

इससे यह देखा गया है कि बुद्धि पूर्विका प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए बाह्य-विकार एवं स्वाभाविक बाह्य-विकार—ये दोनों ही चित्तस्थित भावों के परिचायक होने से दोनों में ही अनुभावत्व है। तथापि दोनों श्रेणियों का पार्थक्य बताने के लिए बुद्धि पूर्विका प्रवृत्ति से पैदा होने वाले नृत्य-गीत विलुण्ठनादिक को कहा जाता है **'उदभास्वर अनुभाव'** या कभी कभी केवल अनुभाव। और अश्रु,कम्प, पुलक, स्तम्भादि स्वाभाविक बाह्य-विकारों को कहा जाता है—**"सात्त्विक-भाव'।**

सात्त्विक भावों के उद्भव के सम्बन्ध में भक्तिरसामृतसिन्धु कहता है—

चित्तं सत्त्वीभवत्प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम्
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् ॥
तदा स्तम्भादयोभावा भक्तदेहे भवन्त्यमी।
ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।
चत्वारि क्ष्मादिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते।
कदाचित् स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः ॥

स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः।
तेजस्थः स्वेद वैवर्ण्यं प्रलयं वियदाश्रितः ॥
स्वस्तु एक क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक्।
रोमाञ्च कम्पवैस्वर्य्यान्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ ॥

भक्तिरसामृत सिन्धु २।३।७-८

—चित्त जब सत्त्वत्व अर्थात् कृष्णसम्बन्धी भावों से आक्रान्तता को प्राप्त होकर चञ्चल मन को प्राणों में समर्पण करता है एवं प्राण विकारापन्न होकर शरीर को अत्यधिकरूप से क्षुभित करते हैं, तभी ही भक्त के शरीर में सब स्तम्भादि सात्त्विक भाव उदय हुआ करते हैं।

सात्त्विक भाव आठ प्रकार के हैं—स्तम्भ,स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवण्वर्य, अश्रु एवं प्रलय या मूच्छा।

कभी कभी प्राण—शरीर में रहने वाले भूमि, जल, तेज एवं आकाश इन चार महाभूतों का अवलम्बन लेते हैं और कभी स्वयं प्रधान होकर अर्थात् वायु को अवलम्बन कर सर्वतोभाव से शरीर में विचरण करते हैं। प्राण जब भूमि का अवलम्बन करते हैं तब स्तस्भ होता है; जब जल में स्थित होते हैं,तब अश्रु;जब तेज में स्थित होते हैं तब स्वेद (पसीना); एवं वैवर्ण्य, जब आकाश में स्थित होते हैं तब प्रलय (मूच्छा) हुआ करती है और प्राण जब वायु में स्थित होते हैं तब यथाक्रम मन्द, मध्य एवं तीव्रतादि के भेद को प्राप्त कर रोमाञ्च, कम्प एवं स्वरभेद इन तीन विकारों को उदित करते हैं।

ये समस्त सात्त्विक भाव स्पष्ट रूप से बाहर शरीर को और भीतर चित्त में क्षोभ पैदा करते हैं। वस्तुतः अन्दर के क्षोभ का बहिर्विकाश ही बाहरले देह क्षोभ रूप में प्रकाशित होता है। आन्तरिक देह को विशेष रूप से विक्षुब्ध करने के कारण ही सात्त्विक भाव साधारणतः संवरण नहीं किये जा सकते।

यहाँ यह भी वक्तव्य है कि कुछ अन्य लोगों में (जो जातरति या प्रेमी भक्त नहीं हैं) अश्रु-कम्पादि देखने में आते हैं। कोई-कोई तो अभ्यास द्वारा भी अश्रु-कम्पादि प्रकाशित किया करते हैं, जैसे अभिनेता लोग। किन्तु

केवल कृष्ण-सम्बन्धी भावों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले अश्रु-कम्पादिक ही सात्त्विक भाव कहलाते हैं, उस प्रकार के दूसरे नहीं।

और फिर चित्त स्थित प्रेम की गाढ़ता की तारतम्यता के अनुसार चित्त के ऊपर कृष्ण-सम्बन्धी भावों के प्रभाव में भी तारतम्य होता है। उसके फलस्वरूप सात्त्विक भाव उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त कर, धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त एवं सुदीप्त—इस पाँच प्रकार की वैचित्री को धारण करते हैं।

धूमायित-सात्त्विक—जो सात्त्विक स्वयं या दूसरे किसी सात्त्विक के साथ मिलकर अल्पमात्र अभिव्यक्त होता है एवं जिसका विकाश छिपाया जा सकता है, उसका नाम है धूमायित।

ज्वलित-सात्त्विक—दो या तीन सात्त्विक भाव यदि एक समय उदित हों और उन्हें गोपन करने के लिए यदि अत्यन्त प्रयत्न करना पड़े तो उन्हें ज्वलित-सात्त्विक कहते हैं।

दीप्त-सात्त्विक— बढ़े हुए तीन, चार, व पाँच सात्त्विक भाव यदि एक ही समय उदित हों और उन्हें यदि किसी प्रकार भी संवरण न किया जा सके तो उन्हें दीप्त-सात्त्विक कहते हैं।

उद्दीप्त-सात्त्विक—एक ही समय यदि पांच व छय या अनेक सात्त्विक भाव उदित होकर परमोत्कर्ष को प्राप्त करें तो वे कहे जाते हैं—उद्दीप्त-सात्त्विक।

सुदीप्त-सात्त्विक—सु+उद्दीप्त=सुदीप्त। सुष्ठुरूप से उद्दीप्त। महाभाव में समस्त सात्त्विक भाव ही सुष्ठुरूप से उद्दीप्त होकर उद्दीप्तता की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर 'सुदीप्त सात्त्विक' कहे जाते हैं।

उद्दीप्ता एव सुदीप्ता महाभावे भवन्त्यमी।
सर्व एव परां कोटिं सात्त्विका यत्र बिभ्रति॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु २।३।४७

इस श्लोक में ''महाभावे''—शब्द से यह जाना जाता है कि एक-मात्र महाभाव में ही समस्त सात्त्विक भाव सुदीप्त हुआ करते हैं, अन्यत्र नहीं।

प्रेम क्रमशः गाढ़ता प्राप्त होते होते स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव में बदल जाता है। श्रीकृष्ण के परिकरों के अतिरिक्त औरों में स्नेह-मान-प्रणयादि का आविर्भाव नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण-परिकरों में केवलमात्र कृष्णकान्ता-गोपसुन्दरियों में ही महाभाव विद्यमान है, अन्यत्र कहीं नहीं। सुदीप्त सात्त्विक के जो लक्षण ऊपर कहे जा चुके हैं, वे केवल महाभाववती गोपसुन्दरियों में ही सम्भव हैं और कहीं सम्भव नहीं हैं।

किन्तु समस्त गोपसुन्दरियों में भी समस्त सात्त्विक भाव सुदीप्त नहीं होते, एक मात्र श्रीराधा में ही सम्भव हैं—अब इस बात की आलोचना करते हैं:—

महाभाव भी गाढ़ता प्राप्त करते करते कई एक स्तरों का अतिक्रमण करता है। महाभाव के दो स्तर हैं— रूढ़ एवं अधिरूढ़। जिस में समस्त सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं—उसे **रूढ़-महाभाव** कहते हैं।

उद्दीप्ताः सात्त्विका यत्र स रूढ़ इति भण्यते।

उज्ज्वलनीलमणि, स्थायिभाव प्रकरण १४४

और जिसमें रूढ़ भावोक्त समस्त अनुभाव या लक्षणों से भी सब सात्त्विक भाव कोई एक अनिर्वचनीय विशिष्ट-दशा को प्राप्त होते हैं उसे **अधिरूढ़-महाभाव** कहा जाता है।

रूढ़ोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढ़ निगद्यते॥

उज्ज्वलनीलमणि, स्था० १२३

यहाँ जिस अनिर्वचनीय विशिष्ट दशा की बात कही गई है, वह सुदीप्त दशा नहीं है। "**अनुभावाः सात्त्विकाः कामप्यनिर्वचनीयां विशिष्टतां प्राप्ताः, न तु सुदीप्ताः इत्यर्थः।**—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती पाद टीका।"इस से ज्ञात होता है कि अधिरूढ़-महाभाव में भी सब सात्त्विक भाव सुदीप्त नहीं होते हैं

गाढ़ता प्राप्त होते होते अधिरूढ़ महाभाव भी पहले **मोदन** और फिर **मादन** में परिणत हो जाता है। मोदन में श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण ये दोनों ही उद्दीप्त-सात्त्विक भावमय सौष्ठव धारण करते हैं।

मोदनः स द्वयोर्यत्र सात्त्विकोद्दीप्त-सौष्ठवम् ॥

—उज्ज्वलनीलमणि० स्था० १२५

मोदन में भी सब सात्त्विक भाव सुदीप्त नहीं होते,केवल उद्दीप्त मात्र होते हैं और ह्लादिनी-सार प्रेम यदि रति से आरम्भ कर महाभाव पर्यन्त समस्त भावों के उद्गम में उल्लासशील हो, तब उसे 'मादन' कहते हैं । यह परात्पर अर्थात् पूर्ववर्ती प्रेम की समस्त स्तरों से उत्कृष्ट है । यह मादन श्रीराधा को छोड़ कर और किसी में नहीं दीखता ।

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादनीसारो राधायामेव यः सदा ॥

उज्ज्वलनीलमणि, स्था० १५५

यहाँ जिस मादन की बात कही जा रही है, श्रीकृष्ण-विरह की अवस्था में उसे ही मोहन नाम से कहा जाता है एवं विरह की विवशता-वश मोहन में सब सात्त्विक भाव सुदीप्त हो उठते हैं ।

मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत् ।
यस्मिन् विरह वैवश्यां सुदीप्ता एव सात्त्विकाः ॥

उज्ज्वल नीलमणि, स्था० १३०

इससे विदित होता है कि केवल मोहन में ही समस्त सात्त्विक भाव सुदीप्त हुआ करते हैं, मोदन में भी सुदीप्त नहीं होते । पूर्वोद्धृत **'रूढ़ोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः'**—इत्यादि श्लोक की टीका में श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी यही लिखा है । **"अनुभावाः सात्त्विकाः कामप्यनिवचनीयां विशिष्टतां प्राप्तां न तु सुदीप्ता इत्यर्थः । तेषां मोहन एव वक्ष्यमाणत्वात् ॥"**

मोहन भाव वृन्दाबनेश्वरी श्रीराधिका में ही प्रायशः उदित होता है और किसी व्रजसुन्दरी में उदित नहीं होता ।

प्रायः वृन्दावनेश्वर्यां मोदनोऽयमुदञ्चति ॥

उज्ज्वलनीलमणि० स्था १३२

सुदीप्त सात्त्विक भाव जब मोहन का विशेष लक्षण है और मोहन जब श्रीराधिका में ही उदित होता है, तब सुदीप्त सात्त्विक भाव जो श्रीराधा

के बिना अन्यत्र होने की सम्भावना नहीं है, यह स्पष्ट रूप से समझा जाता है ।

श्रीमन्महाप्रभु में यदि सुदीप्त सात्विक के लक्षण नजर आवें तो निःसन्देह भाव से यह समझा जायगा कि महाप्रभु श्रीराधा भाव से आविष्ट थे ।

श्रीमन्महाप्रभु के सुदीप्त सात्विक भाव के सम्बन्ध में अनेक उक्तियां श्रीचैतन्य चरितामृत में विद्यमान हैं, यहाँ कई एक का अनुवाद उल्लेख करते हैं—

नीलाचल में रथयात्रा के समय रथ के आगे आगे श्रीमहाप्रभु नृत्य कर रहे थे । आठों सात्विकभाव प्रभु के शरीर में एक साथ ही सुदीप्त उदित हो उठे थे । पुलक व रोमाञ्च में उनके रोममूल व्रणाकार हो गए थे, शरीर उनका कांटों से वेष्टित शिमूल वृक्ष की भाँति होगया था । कम्प में उनका प्रत्येक दांत इतने जोर से काम्प रहा था कि अभी सब दांत बाहर आ पड़ेंगे । प्रस्वेद में समस्त अङ्गों में से इतनी तीव्रता से पसीना निकल रहा था कि उसके साथ रक्त भी बाहर आने लगा था । स्वरभेद इतना तीव्र था कि 'जगन्नाथ' बोलते हुए गद्गद् स्वर में केवल 'जज गग जज गग' ही बोल पाते थे । अश्रु तो पिचकारी की धारा की भांति तीव्र वेग एवं प्रचुर परिमाण में प्रवाहित हो रहे थे । प्रभु चारों ओर घूमते हुए नृत्य कर रहे थे, तो चारों दिशाओं में खड़े हुए दर्शनी लोग उस अश्रुधारा से ऐसे भीज रहे थे, मानो अभी स्नान किया है । वैवर्ण्य प्रभु की उज्ज्वल स्वर्णवत् कान्ति कभी लाल, कभी मल्लिकापुष्प की भांति सफेद हो जाती थी । स्तम्भ में, कभी तो श्रीमहाप्रभु सूखे काष्ठ-दण्ड की भांति पृथ्वी पर पड़ जाते और उनके हाथ पांव निश्चल हो जाते । प्रलय में वे श्वास-प्रश्वास हीन होकर पृथ्वी पर पड़े रह जाते और कभी उनके मुख से झाग ही बहने लगते" (श्रीचैतन्य चरितामृत २।१३।९८-१०४)

श्रीमन्महाप्रभु ने जिसदिन सर्व प्रथम अकेले ही जाकर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किये थे, उस दिन श्रीजगन्नाथजी को आलिङ्गन करने के लिए दौड़ते हुए वे प्रेमावेश में भूमि पर गिर गए थे । दैवयोग से सर्व शास्त्र विशारद सार्वभौम भट्टाचार्य वहां उपस्थित थे । प्रभु का सौन्दर्य एवं अद्भुत प्रेम-विकार देखकर वे विस्मित हो उठे । अचेतन अवस्था में श्री महाप्रभु

बहुत देर तक पड़े रहे। सार्वभौम अपने सेवकों द्वारा श्रीमहाप्रभु को उठवा कर अपने घर ले गए। स्वच्छ स्थान पर उन्हें लिटा दिया। प्रभु का श्वास बन्द था और उदरस्पन्दन तक भी न था। महाचार्य घोर चिन्ता में पड़ गए। सूक्ष्म रूई लेकर प्रभु की नासिका के आगे रख कर देखा कि वह कुछ हिल रही है। तब वे कुछ आश्वस्त हुए। तब शास्त्रज्ञ भट्टाचार्य ने विचार-पूर्वक यही स्थिर किया कि यह अपूर्व-दर्शन ! नवीन सन्यासी में !!

बसि भट्टाचार्य मने करेन विचार।
एइ कृष्ण महा प्रेमेर सात्त्विक विकार॥
सुदीप्त सात्त्विक एइ-नाम ये प्रलय।
नित्यसिद्ध भक्ते से सुदीप्त भाव हय॥

श्री चै० च० २।६।१०-११

श्रीमन्महाप्रभु के शरीर में प्रकटित सुदीप्त सात्त्विक भावों का इस प्रकार विकार निःसन्देह रूप से प्रमाणित करता है कि वे श्रीराधा-भाव में आविष्ट थे। पहले यह कहा जा चुका है कि श्रीराधा के साथ एकत्व प्राप्त न होने पर श्रीराधा का भाव ग्रहण करना सम्भव नहीं है एवं यह भी कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण के बिना और कोई भी श्रीराधा के साथ एकत्व प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वे ही एकात्मा हैं। इसलिए श्रीश्रीगौरसुन्दर जो श्रीश्रीराधाकृष्ण मिलित स्वरूप हैं, केवल सुदीप्त सात्त्विक भाव से ही यह विदित होता है।

श्रीमहाप्रभु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, स्वयं भगवत्ता के लक्षणों द्वारा यह बात पहले प्रमाणित की जा चुकी है एवं वे श्रीराधा हैं, पूर्वोक्त अलोचना द्वारा विशेषतः सुदीप्त सात्त्विक भाव द्वारा यह भी प्रमाणित होती है।

अस्त्र एवं पार्षद

पूर्व आलोचना में यह देखा जा चुका है कि श्रीमद्भागवत के—"कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्"—श्लोक में वर्त्तमान कलि के उपास्य एवं अवतार

गौरवर्ण स्वयं भगवान् को "साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद" कहा गया है। अर्थात् उनके अङ्ग एवं उपाङ्ग ही उनके अस्त्र व पार्षद हैं। वही उनके अस्त्रों और पार्षदों का काम करते हैं। इसका क्या तात्पर्य है ? क्या उनका और कोई अस्त्र व पार्षद नहीं है ?

रसिक शेखर स्वयं भगवान् का स्वरूपगत निजस्व एक कार्य है—रस-आस्वादन। अप्रकट लीला में वे जैसे रसास्वादन करते हैं, प्रकट लीला में भी वे रस-आस्वादन किया करते हैं। उनका आस्वाद्य रस उत्सारित होता है उनकी लीला में। परिकर के बिना लीला होती नहीं है। इसलिए उनके रसास्वादन के लिए परिकरों का प्रयोजन है दोनों लीलाओं में। वे जब ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं तो अपने परिकरों के साथ ही अवतीर्ण होते हैं। श्रीमन्महाप्रभु भी श्रीनित्यानन्द, अद्वैतप्रभु आदि परिकरों के साथ ही अवतीर्ण हुए। परिकर ही पार्षद हैं।

प्रकटलीला में रसिक शेखर स्वयं भगवान् के रस-आस्वादनरूप निजस्व कार्य के अतिरिक्त और भी काम रहता है—ब्रह्माण्ड में रहने वाले जीवों का कल्याण साधन करना। ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णरूप में अवतीर्ण होकर वे तीन लोक में रागमार्ग की भक्ति का प्रचार करते हैं। विशेष कलि में गौररूप से अवतीर्ण होकर वे आपामर साधारण को प्रेमभक्ति वितरण करेंगे—द्वापर में श्रीव्यासदेव को जो वह कह गये थे, उसका भी प्रमाण सहित उल्लेख किया जा चुका है। इसलिए गौररूप से अवतीर्ण होने की सूचना से ही उन्होंने संकल्प किया था—

'चारिभावेर भक्ति दिया नाचाइमु भुवन॥"

—श्री चै०चरितामृत १।३।१७

उन्होंने और भी संकल्प किया—

"आपनि आचारि भक्ति शिखाइमु सभारे॥"

—श्री चै० चरितामृत १।३।१८

गौर अवतार में यही भगवान् का जीव-कल्याणात्मक कार्य है। प्रकट लीला में भगवान् के जीव-कल्याणात्मक कार्य में भी उनके पार्षदवर्ग अनुकूलता किया करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु श्रीश्रीगौरकृष्ण ने स्वयं जैसे प्रेमभक्ति का वितरण किया, उन्होंने अपने पार्षद श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैतादिक के द्वारा भी वैसे कराया और स्वयं आचरण कर जैसे भजन का आदर्श स्थापन किया, अपने पार्षदों द्वारा भी उस प्रकार का आदर्श स्थापन कराया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीश्रीगौरसुन्दर अपने पार्षदों के साथ ही अवतीर्ण हुए थे एवं उन पार्षदों ने उनकी लीला में भी अनुकूलता विधान की। तथापि उनके अङ्ग प्रति अङ्ग को उनका अस्त्र व पार्षद कहने का तात्पर्य यही है कि उनके लीला परिकर पार्षद भी अवतीर्ण हुए और प्रकट-लीला के जीव-कल्याणात्मक कर्य में उनके अङ्ग प्रति अङ्ग ने भी अस्त्र एवं पार्षदों का कार्य किया। कैसे ?—उसे अब कहते हैं—

यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीमन्महाप्रभु के अङ्ग प्रति अङ्ग का दर्शन करते ही लोगों ने प्रेमभक्ति प्राप्त की एवं धन्य हो गए। इस प्रकार उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग ने उनकी प्रेम-वितरण-लीला की अनुकूलता करते हुए पार्षदों का काम किया।

किसी किसी अवतार में भगवान् अस्त्र लेकर अवतीर्ण होते हैं—असुरों का संहार करने के लिए। यह भी उनकी जीव-कल्याणात्मिका लीला है। पहले कह आए हैं कि इस अवतार में उन्होंने असुरों का संहार नहीं किया। बल्कि नाम-प्रेम-वितरण द्वारा असुरों का चित्त शुद्ध कर उनके असुरत्व का ही संहार किया। किसी के भी प्राणों का उन्होंने विनाश नहीं करना था, इसलिए उन्हें किसी अस्त्र का प्रयोजन नहीं था। उनके श्रीअङ्ग दर्शन से ही जब असुरगण ने प्रेम प्राप्त कर लिया—उनका चित्त शुद्ध हो गया तब यह बात सहज में ही समझी जा सकती है कि उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग ने ही अस्त्रों का काम किया।

इस प्रकार उनके अङ्ग एवं उपाङ्गों ने भी अस्त्र एवं पार्षदों का काम किया जिससे उन्हें "साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षद" कहा गया है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग

रूप पार्षदों के अतिरिक्त उनके लीला परिकर वृन्द भो उनके साथ अवतीर्ण हुए थे।

श्रीश्रीश्यामसुन्दर एवं श्रीश्रीगौरसुन्दर

पूर्ववर्त्ती आलोचना में उद्धृत शास्त्र प्रमाणों से यह स्पष्ट भाव से ही जाना जा चुका है कि व्रजविलासी श्रीश्रीश्यामसुन्दर एवं नवद्वीपविलासी श्रीश्रीगौरसुन्दर एक ही अभिन्न परब्रह्मतत्व है। तथापि उनके एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप की विशेषता है,। उस विशेषता का किञ्चित् दिग्दर्शन यहां कराते हैं—

(१) रस स्वरूपत्व—

परब्रह्म के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—'आनन्दं ब्रह्म'। रसो वै सः। वह आनन्द स्वरूप है, रस स्वरूप है। श्रुति ने और भी कहा है—"सर्वरसः"—यह समस्त रसों का समवाय है। अशेष रसामृत-वारिधि है। इस शब्द का क्या तात्पर्य है—वह जाने बिना इन समस्त शक्तियों की धारणा करना सम्भव नहीं है।

रस्-धातु से रस-शब्द निष्पन्न होता है। रस-धातु का अर्थ है आस्वादन। रस-शब्द के दो अर्थ हैं। "रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः।" जिसका आस्वादन किया जाए वह रस है। आस्वाद्य वस्तु, जैसे मधु। यह अर्थ है। और दूसरा अर्थ है, "रसयति (आस्वादयति) इति रसः"—जो आस्वादन करता है, वह रस है। रस आस्वादक वा रसिक जैसे भ्रमर। रस स्वरूप परब्रह्म आस्वाद्यरस भी है और रस-आस्वादक रसिक भी—दोनों हैं। जब वह ब्रह्मतत्व सर्व विषय में सर्व वृहत्तम तत्व है, तब यह भी समझ लेना चाहिये कि आस्वाद्यत्व एवं रसिकत्व ये दोनों ही उस में सर्वातिशायी रूप में विकसित हैं। इन दोनों विषयों में उसके समान और कोई नहीं है, अधिक की तो क्या बात।

आस्वाद्य-रस-स्वरूप का तात्पर्य क्या किया है—इस की विवेचना करते हैं। रस-शब्द का साधारण अर्थ आस्वाद्य-वस्तु होते हुए भी रस

शास्त्र में आस्वाद्य-वस्तु मात्र को रस नहीं कहा जाता। जिस आस्वाद्यवस्तु में चमत्कारित्व है, उसे ही रस कहते हैं; क्योंकि रसशास्त्र के मत से "रसे सारश्चमत्कारो, यं बिना न रसो रसः।"—रस का सार या प्राण है चमत्कारिता। चमत्कारिता के न रहने पर किसी आस्वाद्यवस्तु को रस नाम से नहीं पुकारा जा सकता। यह चमत्कारिता है आस्वादन की चमत्कारिता। रस वस्तु के लिए यह अपरिहार्य है। चमत्कारिता—शब्द का और कोई प्रति शब्द नहीं दिया जा सकता। पहले जिसका आस्वादन नहीं किया गया है अथवा जिसके आस्वादन की बात पहले कभी नहीं मालूम हुई, ऐसी किसी वस्तु के आस्वादन में अनास्वादित-पूर्व माधुर्य के अनुभव से चित्त में जो एक स्फारता (प्रफुल्लता) पैदा होती है उसे ही चमत्कारिता कहते हैं। इस चमत्कारिता की वाचनिकी अभिव्यक्ति होती है—"आहा कैसा चमत्कार"—इत्यादि वाक्य से। जिस आस्वाद्य वस्तु में इस प्रकार की चमत्कारिता रहती है, उसे ही आस्वाद्य रस कहते हैं।

इस प्रकार की चमत्कारिता परिमाण में कितनी होने पर आस्वाद्यवस्तु को वास्तव में रस नाम से पुकारा जा सकता है, रसशास्त्र में यह भी उल्लेख किया गया है। आस्वादन जनित सुख यदि इतना अधिक हो, जिस से आस्वादक की समस्त अन्तरिन्द्रिय व बहिरिन्द्रिय एकमात्र आस्वादन चमत्कारिता में ही केन्द्रीभूत होजाएं, अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध का उन्हें अनुसन्धान न रहे, ऐसा होने पर ही उस चमत्कारि-सुख को रस कहा जाता है।

बहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तर-रोधकम्।
स्वकारण-संश्लेषि चमत्कारिसुखं रसः॥

(किस अवस्था में और किस कारण कौन सी अस्वाद्यवस्तु चमत्कारिता धारण कर रसरूप में परिणत होती है, ग्रन्थ-विस्तार भय से इस का वर्णन नहीं किया जारहा है)

लौकिक रस भी है, किन्तु उसमें रसत्व का व चमत्कारिता की नित्यता नहीं है। किन्तु परब्रह्म नित्यवस्तु है; उसका रस-स्वरूपत्व भी

नित्य है। इसलिए उसका आस्वादन-चमत्कारित्व भी नित्य है एवं आस्वादन-चमत्कारित्व के पक्ष में आस्वादक की बहिरिन्द्रियों एवं अन्तरिन्द्रियों का व्यापारान्तररोधकत्व भी नित्य है। वह चमत्कारित्व है नित्य-नव-नवायमान। इसलिए इसके चमत्कारित्व की समाप्ति नहीं होती। नित्य-नव-नवायमान-चमत्कारित्वमय नित्य-नव-नवायमान-माधुर्यसमन्वित आनन्द स्वरूप परब्रह्म ही है रस—आस्वाद्यवस्तु।

अब आस्वादक-रस के सम्बन्ध में विवेचना करते हैं। पहले ही कह आए हैं—रसस्वरूप परब्रह्म है आस्वाद्य एवं आस्वादक, दोनों। वह क्या आस्वादन करता है? अवश्य, वह रस ही आस्वादन किया करता है, नहीं तो उसे रस-आस्वादक या रसिक न कहा जाता। किन्तु वह कौन सा रस आस्वादन करता है?

आनन्द-स्वरूप ब्रह्म आस्वादन करता है आनन्द-रस। उसका आस्वाद्य आनन्द भी है दो प्रकार का—स्वरूपानन्द तथा स्वरूप-शक्त्यानन्द। आनन्द स्वतः ही मधुर एवं आस्वाद्य है। और पहले कहा गया है कि उस की स्वरूप-शक्ति की प्रत्येक वैचित्री में ही आनन्ददायिनी ह्लादिनी है; इसलिए उस की स्वरूप-शक्ति भी आस्वाद्य है, अवश्य ह्लादिनी के परिमाण के एवं गाढ़ता के तारतम्यानुसार उसके आस्वाद्यत्व का भी तारतम्य होता है। परब्रह्म लीला पुरुषोत्तम होने से उसमें लीला है, लीला-परिकर है। ह्लादिनी प्रधाना स्वरूप-शक्ति फिर प्रेमरूप से ही परिकरों के चित्त में अवस्थान करती है। यह प्रेम भी ह्लादिनी की वृत्ति विशेष होने से स्वरूपतः ही आस्वाद्य है। लीला के माध्यम से परिकर-भक्तों के चित्त में रहने वाला प्रेमरस उच्छ्वसित एवं उत्सारित होता है। यही प्रेम ही स्वरूप-शक्ति की वृत्ति विशेष होने से वास्तविक शक्त्या है एवं यही प्रेमरस ही शक्त्यानन्दरस।

स्वरूप-शक्ति परब्रह्म के स्वरूप में अवस्थित रहती है शक्तिरूप से एवं परिकर भक्त विषयिणी प्रीतिरूप से। ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूप-शक्ति की सहायता से ही आनन्द या रस का आस्वादन किया जाता है।

ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन।
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषण॥

श्री चै० च० १. ४. ५३

परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं ब्रह्मतत्त्व—सर्ववृहत्तम तत्त्व। समस्त विषय में ही वे सर्ववृहत्तम हैं। किसी विषय में ही उनके समान कोई नहीं, उनकी अपेक्षा अधिक भी कोई नहीं। "**न तत्समोऽभ्यधिकश्च कश्चित्**" ॥श्रुति॥ रस रूप में भी वे सर्ववृहत्तम हैं— आस्वाद्य-रसरूप में भी वे सर्ववृहत्तम हैं। असमोर्ध्व एवं आस्वादक-रसरूप में अर्थात् रसिक रूप में भी वे सर्ववृहत्तम हैं, रसिकशेखर हैं।

आस्वाद्य-रसरूप से उनका स्वरूपगत आनन्द है असमोर्ध्व आस्वादन-चमत्कारितामय रस। ह्लादिनी की सहायता से वे उसे आस्वादन करते हैं—वे आत्माराम हैं।

सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन॥ श्री चै० चरितामृत २।८।१३९॥

और फिर लीला के व्यपदेश से परिकर-भक्तों के प्रेमरस-माधुर्य का भी वे आस्वादन करते हैं—यही उनके स्वरूप-शक्त्यानन्द का आस्वादन है।

पहले यह कहा जा चुका है, वे "सर्वरसः" हैं अशेष रसामृतसिन्धु हैं, अनन्त रस-वैचित्री का समवाय हैं। उनके अनन्त रस-वैचित्री के मूर्त्तरूप ही हैं नारायण, राम, नृसिंहादि अनन्त भगवत्-स्वरूप। इन समस्त भगवत् स्वरूपों की लीला है, लोला-परिकर हैं। विभिन्न रस-वैचित्री पृथक् पृथक् भाव से आस्वादन करने के लिए परब्रह्म अनादि काल से विभिन्न भगवत्-स्वरूप रूप से विराजमान हैं। इन का प्रत्येक भगवत् स्वरूप ही यथायथ भाव से स्वरूपानन्द एवं शक्त्यानन्द आस्वादन करता है। शक्ति-विकाश के तारतम्यानुसार ही रस-वैचित्री का तारतम्य एवं रस-वैचित्री के मूर्त्तरूप भगवत्-स्वरूपगण का तारतम्य है। सर्व शक्ति का पूर्णतम विकाश है—इसलिए रसत्व का भी पूर्णतम विकाश है—केवलमात्र परब्रह्म श्रीकृष्ण में।

प्रत्येक भगवत् स्वरूप का स्वरूपानन्द भी एवं स्वरूपानन्द के अन्तर्भुक्त विग्रह-माधुर्य भी परमास्वाद्य हैं; किन्तु श्रीकृष्ण स्वरूप का स्वरूपानन्द एवं माधुर्य परमतम आस्वाद्य है। श्रीकृष्ण स्वरूप का माधुर्य—

कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम, ताहां ये स्वरूपगण,
बले हरे ता—सभार मन।
पतिव्रता-शिरोमणि, यारे कहे वेदवाणी,
आकर्षये सेइ लक्ष्मीगण॥

श्री चै० चरितामृत २।२१।८८

अधिकन्तु श्रीकृष्ण—

आपन माधुर्ये हरे आपनार मन।
आपने आपना चाहे करिते आस्वादन॥

श्री चै० चरितामृत २।८।११४

और फिर प्रत्येक भगवत् स्वरूप का शक्त्यानन्द भी परम लोभनीय है, किन्तु परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वरूप का शक्त्यानन्द परमतम लोभनीय है। यहां तक कि स्वयं श्रीकृष्ण के लिए भी परमतम लोभनीय है। क्यों और कैसे ?—उसे कहते हैं।

ऐश्वर्यज्ञान में स्वभावतः ही माधुर्य संकुचित हो जाता है। इसलिए जिन लीलाओं में ऐश्वर्य ज्ञान भगवान् में है और उनके परिकर वर्ग में विद्यमान है, उन समस्त लीलाओं में माधुर्य का अप्रतिहत विकाश सम्भव नहीं है। माधुर्य-विकाश के तारतम्यानुसार लीलारस की लोभनीयता का भी तारतम्य है। इसलिए जहां ऐश्वर्य पूर्णतमरूप से वर्तमान रहते हुए भी ऐश्वर्य का ज्ञान नहीं रहता, वहां माधुर्य का अव्याहत विकाश है एवं लोभनीयता का भी चरमतम विकाश है।

परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं स्वरूपतः नरवपु एवं नित्य नरलील। व्रजधाम ही है उनकी नरलीला का धाम। इसी नरलीला में माधुर्य का जैसा पूर्णतम विकाश है, ऐश्वर्य का भी उसी प्रकार पूर्णतम विकाश है। क्यों कि लीला-विलासी हैं परब्रह्म। किन्तु ऐश्वर्य का पूर्णतम विकाश रहते हुए भी माधुर्य का सर्वातिशायी प्राधान्य है, इतना प्राधान्य है कि ऐश्वर्य माधुर्य के अनुगत होकर रहता है। माधुर्य द्वारा अपने को प्रच्छन्न कर माधुर्य की ही सेवा करता रहता है—रसिक शेखर की रसास्वादिका लीला की। इसलिए रसास्वादन की पुष्टि विधान कर उसकी सेवा करता रहता है, किन्तु वह सेवा

करता है अपने स्वरूप को छिपा कर। उस लीला में ऐश्वर्य ज्ञान रहता है प्रच्छन्न, लीला का माधुर्य ही रहता है सर्वतोभाव से देदीप्यमान, नित्य नवनवायमान। इसलिए अन्यान्य भगवत् स्वरूप रूप से परब्रह्म जो लीला करता है, उसकी अपेक्षा स्वयं रूप की लीला सर्व विषय में ही उत्कर्षमयी होती है—

कृष्णेर यतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला,
नरवपु कृष्णेर स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर, नव किशोर नटवर,
नरलीला हय अनुरूप॥

श्रीचै० चरितामृत २।२१।८३

परब्रह्म श्रीकृष्ण की इस सर्वलीलोत्कर्षमयी नरलीला में फिर रास-लीला है—सर्वलीला-मुकुटमणि। क्यों कि यह रासलीला है परम रस कदम्ब-मयी। परमरस समूहों की एक साथ अभिव्यक्ति केवलमात्र रासलीला में ही सम्भव है। इस रासलीला के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तातो मनोहरा।
नहि जाने स्मृते रासे मनोमे कीदृशं भवेत्॥

—"मेरी अनेक लीलाएं हैं, प्रत्येक लीला ही मेरी मनोहारिणी है, किन्तु रासलीला की कथा याद करते ही मेरे मन की न जाने कैसी अवस्था होती है, मन कैसे विह्वल हो उठता है, उसे मैं कह नहीं सकता।"

इन समस्त कारणों से कहा जाता है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण की लीला में जो शक्त्यानन्द उत्सारित होता है, वह परमतम लोभनीय है,स्वयं श्रीकृष्ण के पक्ष में भी परमतम लोभनीय है।

रस-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण यह परमतम लोभनीय शक्त्यानन्द भी आस्वादन करते हैं। इसी से ही उनका रसिकत्व है।

पूर्ववर्ती आलोचना में परब्रह्म के रस स्वरूपत्व का एक आभास दिखलाने की चेष्टा की गई है। अब रसस्वरूपत्व में श्रीश्री श्यामसुन्दर का एवं श्रीश्रीगौरसुन्दर का क्या वैशिष्ट्य है, उसके सम्बन्ध में थोड़ी आलोचना करते हैं।

(२) **स्वरूपानन्द**—

यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीविग्रह का वा रूप का माधुर्य भी स्वरूपानन्द के अन्तर्भुक्त है।

श्रीश्रीश्यामसुन्दर के माधुर्य का चरमतम विकाश उनके मदनमोहन रूप में है। उनका यह मदनमोहन रूप ही (मन्मथ-मन्मथ रूप से) सर्व चित्ताकर्षक है। यहां तक कि स्वयं मदन तक को भी मुग्ध किए देता है।

पुरुष-योषित् किवा स्थावर-जङ्गम।
सर्वचित्त आकर्षक साक्षात् मन्मथमदन॥

श्रीचै० चरितामृत २।८।११०

किन्तु श्रीश्रीगौरसुन्दर के स्वरूप में जिस माधुर्य का विकाश है। वह मदन-मोहन स्वरूप के माधुर्य की अपेक्षा भी सर्वातिशायी रूप से उन्माद जनक है—यह पहले कहा जा चुका है।

इसलिए स्वरूपानन्द के दृष्टिकोण से परब्रह्म के श्यामसुन्दर से गौरसुन्दर रूप का उत्कर्ष है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। रस-स्वरूप परब्रह्म के कृष्णत्व का (सर्वचित्ताकर्षकत्व का) पूर्णतम विकाश श्रीश्रीगौरसुन्दर-रूप में है—ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा।

३– आस्वादक रस-स्वरूप—

(क) **स्वरूपानन्द का आस्वादक रसिक**—माधुर्य के आस्वादन का एकमात्र उपाय है प्रेम। जो प्रेम का आश्रय है, वही माधुर्य का आस्वादन कर सकता है। आश्रय जातीय प्रेम के और फिर अनेक स्तर हैं। स्तरभेद से माधुर्यास्वादन में भी तारतम्य हुआ करता है। पूर्णतम-विकाशमय स्तर का अर्थात् मादनाख्य महाभाव का आश्रय हो सकने में ही श्रीकृष्ण-माधुर्य का पूर्णत्तम आस्वादन सम्भव है।

यह कहा जा चुका है—श्रीश्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण में मादनाख्य-महाभाव का विकाश नहीं है, इसीलिए वे अपना माधुर्य पूर्णतम रूप से आस्वादन नहीं कर पाते।

किन्तु 'रसराज महाभाव दुई एक रूप'—श्रीश्रीगौरसुन्दर-कृष्ण में मादनाख्य-महाभाव का पूर्णतम-विकाश है, इसलिए इस स्वरूप से रस–

स्वरूप परब्रह्म के माधुर्य का पूर्णतम आस्वादन सम्भव है।

इसलिए माधुर्य के आस्वादक रसिक के हिसाब से श्रीश्रीश्याम-सुन्दर की अपेक्षा श्रीश्रीगौरसुन्दर का उत्कर्ष स्वीकार करना होगा।

(ख) **शक्त्यानन्द का आस्वादक रसिक**—यह कहा जा चुका है कि शक्त्यानन्द का आस्वादन है—प्रेम-रस निर्यास का आस्वादन।

श्रीश्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण अपनी व्रजलीला में चार भावों से रस-आस्वादन करते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन चार भावों के उनके अनादि सिद्ध नित्य परिकर हैं। दास्य भाव के परिकर के साथ लीला में दास्य रस, सख्य भाव के परिकर सहित लीला में सख्य-रस, वात्सल्य भाव के परिकर सहित लीला में वात्सल्य रस तथा मधुर भाव के परिकर सहित लीला में मधुर रस उच्छ्वसित एवं उत्सारित होता है। वे उसे स्वयं भी आस्वादन करते हैं एवं अपने परिकरोंको भी आस्वादन कराते हैं। वे आस्वादन करते हैं प्रेम के विषयरूप से और परिकरगण आस्वादन करते हैं प्रेम के आश्रय रूप से। दास्य-सख्यादि की वैचित्री विशेष का आश्रय रूप से भी वह रस आस्वादन करते हैं, किन्तु मधुर-भाव के मुख्यतम परिकर श्रीराधा-प्रेम के वे केवलमात्र विषय हैं, आश्रय नहीं। अतएव श्रीराधा-प्रेम के आश्रय रूप से जो शक्त्यानन्द का आस्वादन है, वह श्रीश्यामसुन्दर के लिए दुर्लभ है।

श्रीगौरसुन्दर-कृष्ण राधा-श्याम के मिलित स्वरूप होने से उनमें श्री-कृष्ण का भाव भी है और श्रीराधा का भी। स्वमाधुर्य अर्थात् श्रीश्याम-सुन्दर का माधुर्य आस्वादन करना ही उनका मुख्य स्वरूपानुबन्धि कार्य होने से उनमें श्रीराधा के भाव का ही अधिक विकाश दीखता है। किन्तु श्री-कृष्ण भाव का विकाश उनमें नहीं हो, यह बात नहीं है। यहाँ कई एक दृष्टान्तों का उल्लेख करते हैं।

श्रीश्रीगौरसुन्दर ने श्रीकृष्णभाव में तैर्थिक ब्राह्मणादि की एवं ईशानादि की सेवा में दास्य रस का आस्वादन किया; रामाई, सुन्दरानन्द गौरीदास एवं अभिरामादि के साथ उन्होंने सख्य रस का आस्वादन किया, श्रीशचीमाता तथा श्रीमिश्रपुरन्दर के साथ उन्होंने वात्सल्य रस का एवं गदाधरादि सहचर गण के साथ गङ्गा में नौका-विलासादि में मधुररस का

भी उन्होंने आस्वादन किया। इस सम्बन्ध में महाजनों की उक्ति प्रमाण है। गोष्ठलीला श्रीगौरचन्द्र में देखी जाती है:—

आजुरे गौराङ्गेर मने कि भाव उठिल।
धवली साङली बलि सघने डाकिल॥
शिङ्गा वेणु मुरली करिया जयध्वनि।
है है बलिया गोरा घुराय पांचनि॥

और—

"गौर किशोर, पूरव रसे गर गर, मने भेल गोष्ठ बिहार।
दाम श्रीदाम सुबल बलि डाकइ, नयने गलये जलधार॥
वेत्र विषाण, साज लेइ याजन, याज़ब भाण्डीर समीप।
गौरीदास, साज करि तखने, गौर निकटे उपनीत॥"

—शृङ्गवेणु, वेत्र-विषान सजाकर दाम-श्रीदाम-सुवलादि को साथ लेकर है है ध्वनि करते हुए धवली, श्यामली आदि गौओं का घेरते हुए श्रीकृष्ण ही भाण्डीरादि वन में गोचारन किया करते हैं। श्रीराधा तो इस प्रकार गोचारन नहीं करती। इसलिए स्पष्ट भाव से यह विदित हो जाता है कि उल्लिखित पद समूह में श्रीगौरसुन्दर का श्रीकृष्ण भाव ही प्रकाशित हुआ है। यह सख्यभाव का उदाहरण है।

बालकपन में श्रीगौरसुन्दर का मृद्भक्षण, काली-हांडियों के ढेर पर जाकर बैठना, घर से सामान की तोड़-फोड़ करना, गङ्गाघाट पर ऊधम-बाजी और मिश्र पुरन्दर का उनके प्रति शासनादि बाल्यलीला में उनके श्रीराधा भाव से वात्सल्य रसास्वादन करने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। नीलाचल में कृष्ण-जन्मोत्सव में गोप भाव से आविष्ट होकर श्रीनन्दमहाराज के वेश में सुसज्जित कामाई-खूंटिया के चरण-वन्दनादि में भी उनका श्री-कृष्ण भाव से वात्सल्य आस्वादन सूचित होता है।

श्रीकृष्ण भाव से मधुर रसास्वादन का दृष्टान्त भी महाजनों के पद में देखने को मिलता है—नौका विलासी गौरचन्द्र में—

ना जानिये गोराचान्देर कोन् भाव मने।
सुरधुनीतीरे गेला सहचर सने॥

स्वरूप परब्रह्म के माधुर्य का पूर्णतम आस्वादन सम्भव है।

इसलिए माधुर्य के आस्वादक रसिक के हिसाब से श्रीश्रीश्याम-सुन्दर की अपेक्षा श्रीश्रीगौरसुन्दर का उत्कर्ष स्वीकार करना होगा।

(ख) **शक्त्यानन्द का आस्वादक रसिक**—यह कहा जा चुका है कि शक्त्यानन्द का आस्वादन है—प्रेम-रस निर्यास का आस्वादन।

श्रीश्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण अपनी व्रजलीला में चार भावों से रस-आस्वादन करते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन चार भावों के उनके अनादि सिद्ध नित्य परिकर हैं। दास्य भाव के परिकर के साथ लीला में दास्य रस, सख्य भाव के परिकर सहित लीला में सख्य-रस, वात्सल्य भाव के परिकर सहित लीला में वात्सल्य रस तथा मधुर भाव के परिकर सहित लीला में मधुर रस उच्छ्वसित एवं उत्सारित होता है। वे उसे स्वयं भी आस्वादन करते हैं एवं अपने परिकरोंको भी आस्वादन कराते हैं। वे आस्वादन करते हैं प्रेम के विषयरूप से और परिकरगण आस्वादन करते हैं प्रेम के आश्रय रूप से। दास्य-सख्यादि की वैचित्री विशेष का आश्रय रूप से भी वह रस आस्वादन करते हैं, किन्तु मधुर-भाव के मुख्यतम परिकर श्रीराधा-प्रेम के वे केवलमात्र विषय हैं, आश्रय नहीं। अतएव श्रीराधा-प्रेम के आश्रय रूप से जो शक्त्यानन्द का आस्वादन है, वह श्रीश्यामसुन्दर के लिए दुर्लभ है।

श्रीगौरसुन्दर-कृष्ण राधा-श्याम के मिलित स्वरूप होने से उनमें श्री-कृष्ण का भाव भी है और श्रीराधा का भी। स्वमाधुर्य अर्थात् श्रीश्याम-सुन्दर का माधुर्य आस्वादन करना ही उनका मुख्य स्वरूपानुबन्धि कार्य होने से उनमें श्रीराधा के भाव का ही अधिक विकाश दीखता है। किन्तु श्री-कृष्ण भाव का विकाश उनमें नहीं हो, यह बात नहीं है। यहाँ कई एक दृष्टान्तों का उल्लेख करते हैं।

श्रीश्रीगौरसुन्दर ने श्रीकृष्णभाव में तैर्थिक ब्राह्मणादि की एवं ईशानादि की सेवा में दास्य रस का आस्वादन किया; रामाई, सुन्दरानन्द गौरीदास एवं अभिरामादि के साथ उन्होंने सख्य रस का आस्वादन किया, श्रीशचीमाता तथा श्रीमिश्रपुरन्दर के साथ उन्होंने वात्सल्य रस का एवं गदाधरादि सहचर गण के साथ गङ्गा में नौका-विलासादि में मधुररस का

भी उन्होंने आस्वादन किया। इस सम्बन्ध में महाजनों की उक्ति प्रमाण है। गोष्ठलीला श्रीगौरचन्द्र में देखी जाती है:—

आजुरे गौराङ्गेर मने कि भाव उठिल।
धवली साङली बलि सघने डाकिल॥
शिङ्गा वेणु मुरली करिया जयध्वनि।
है है बलिया गोरा घुराय पांचनि॥

और—

"गौर किशोर, पूरव रसे गर गर, मने भेल गोष्ठ बिहार।
दाम श्रीदाम सुबल बलि डाकइ, नयने गलये जलधार॥
वेत्र विषाण, साज लेइ याजन, याज़ब भाण्डीर समीप।
गौरीदास, साज करि तखने, गौर निकटे उपनीत॥"

—शृङ्गवेणु, वेत्र-विषान सजाकर दाम-श्रीदाम-सुवलादि को साथ लेकर है है ध्वनि करते हुए धवली, श्यामली आदि गौओं का घेरते हुए श्रीकृष्ण ही भाण्डीरादि वन में गोचारन किया करते हैं। श्रीराधा तो इस प्रकार गोचारन नहीं करती। इसलिए स्पष्ट भाव से यह विदित हो जाता है कि उल्लिखित पद समूह में श्रीगौरसुन्दर का श्रीकृष्ण भाव ही प्रकाशित हुआ है। यह सख्यभाव का उदाहरण है।

बालकपन में श्रीगौरसुन्दर का मृद्भक्षण, काली-हांडियों के ढेर पर जाकर बैठना, घर से सामान की तोड़-फोड़ करना, गङ्गाघाट पर ऊधम-बाजी और मिश्र पुरन्दर का उनके प्रति शासनादि बाल्यलीला में उनके श्रीराधा भाव से वात्सल्य रसास्वादन करने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। नीलाचल में कृष्ण-जन्मोत्सव में गोप भाव से आविष्ट होकर श्रीनन्दमहाराज के वेश में सुसज्जित कामाई-खूंटिया के चरण-वन्दनादि में भी उनका श्री-कृष्ण भाव से वात्सल्य आस्वादन सूचित होता है।

श्रीकृष्ण भाव से मधुर रसास्वादन का दृष्टान्त भी महाजनों के पद में देखने को मिलता है—नौका विलासी गौरचन्द्र में—

ना जानिये गोराचान्देर कोन् भाव मने।
सुरधुनीतीरे गेला सहचर सने॥

प्रिय-गदाधर-आदि सङ्गे ते करिया।
नौकाय चड़िल गौर प्रेमावेश हैया॥
आपनि काण्डारी हैया वाय नौकाखानि।
डुबिल डुबिल बलि सिञ्चे सबे पानि॥

और फिर—

आरे मोर गौराङ्ग नाय।
सुरधुनी माझे याइया, नवीन नाविक हैया, सहचर मेलिया खेलाय॥
प्रिय गदाधरसङ्गे, पूरव रभसरङ्गे, नौकाय वसिया करे केलि।
डुब डुब करे ना, वहाय विषम वा, देखि हासे गोरा बनमाली॥"

—यहाँ अन्त में कहे गए पद में श्रीमहाप्रभु को 'गोरा बनमाली' कहा गया है, जिससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि वे श्रीकृष्णभाव में आविष्ट हो रहे थे। गौरा-वनमाली—अर्थात् गौररूप में वनमाली (श्री-कृष्ण) अथवा वनमाली के भाव में आविष्ट गोरा। विशेषत: ब्रजलीला में श्रीकृष्ण ही यमुना में नौका-विहार करते समय स्वयं केवट बन जाते हैं और भारी पवन चलाकर 'डूबी डूबी' ऐसा कहकर ब्रजगोपियों को डराया करते हैं। श्रीराधा जी ने ऐसा कभी किया हो, कहीं नहीं सुना जाता।

श्रीगौरचन्द्र में श्रीकृष्ण के पूर्वरागोचित भाव का स्पष्ट उल्लेख किया जाता है—

आरे मोर गोरा द्विजमणि।
राधा राधा बलि कान्दे,लोटाय धरणी॥
राधानाम जपे गोरा परम यतने।
सुरधुनी धारा बहे करुण नयने॥
खेने खेने गोरा अङ्ग भूमे गड़ि जाय।
राधानाम बलि खेने खेने मुरझाय॥

—श्रीराधा के विरह में कातर होकर श्रीकृष्ण जैसे राधानाम जप करते हैं, राधा-राधा कहकर रोने लगते व भूमि पर लुण्ठन करते हैं। श्री-गौरसुन्दर का भी ठीक वही भाव उपर्युक्त पद में व्यक्त हुआ है।

श्रीचैतन्य चरितामृत (३-६-८) में भी देखा जाता है—

सुबल यैछे पूर्वे कृष्ण सुखेर सहाय।
गौरसुख दान हेतु तैछे रामराय॥

इस प्रसङ्ग में भी नीलाचल में श्रीगौरसुन्दर के श्रीकृष्ण भाव की बात ही कही गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीगौरसुन्दर ने श्रीकृष्ण भाव में भी शक्त्यानन्द का आस्वादन किया है। उनका राधा भाव तो अति प्रसिद्ध है ही, जिसके कई एक दृष्टान्त पहले दिये जा चुके हैं। अतः शक्त्यानन्द के आस्वादन विषय में भी श्रीश्यामसुन्दर की अपेक्षा श्रीश्रीगौरसुन्दर का उत्कर्ष दीखता है। स्वरूपानन्द के आस्वादन में भी श्रीश्रीगौरसुन्दर का उत्कर्ष पहले वर्णन किया ही जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि रसास्वादन में श्रीश्याम सुन्दर की अपेक्षा श्री गौरसुन्दर का उत्कर्ष है। इनमें रसिकत्व का विकाश भी अधिक है।

(४) रसस्वरूप में विषय एवं आश्रय—

परब्रह्म रसस्वरूप होने के कारण परिकर-भक्तों का प्रेमरस-निर्यास आस्वादन करता रहता है। यह आस्वादन दो प्रकार से होता है। प्रेम के विषय रूप से तथा प्रेम के आश्रय रूप से।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कहा है—

नाना भक्तेर रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर विषय-आश्रय॥
श्री चै० च० २।८।१११

श्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण समस्त भक्तों के समस्त रसों के और समस्त भावों के समस्त प्रेम-स्तरों के ही विषय हैं—इसमें कुछ सन्देह नहीं है। वस्तु वे श्रीराधा के मादनाख्य-प्रेम के आश्रय नहीं हैं। प्रेम की अन्य स्तरों के भले ही आश्रय हों।

किन्तु श्रीगौरसुन्दर-कृष्ण राधा-श्याम मिलित स्वरूप होने से मादन-प्रेम का भी आश्रय हैं और समस्त प्रेम-स्तरों के ही विषय एवं आश्रय हैं। विषय एवं आश्रय—यह दोनों वैचित्री इनमें पूर्णरूप से विराजित हैं।

अतएव प्रेम के विषय एवं आश्रय के दृष्टि कोण से श्रीश्यामसुन्दर की अपेक्षा श्रीगौरसुन्दर का उत्कर्ष दीखता है। श्रीश्यामसुन्दर हैं विषय-प्रधान स्वरूप; और श्रीगौरसुन्दर हैं विषयाश्रय-स्वरूप। यद्यपि लीला दृष्टि से उन्हें आश्रय-प्रधान स्वरूप ही कहा जाता है।

(५) रसस्वरूपत्व व परिकर—

परब्रह्म रसस्वरूप होने से लीला किया करता है—लीला रस आस्वादन के लिए। वह लीला करता है अपने परिकरों के साथ। परिकरों के स्वरूप विचार से भी श्रीश्यामसुन्दर में एवं श्रीगौरसुन्दर में वैशिष्ट्य दीखता है।

श्रीश्यामसुन्दर की लीला में भाव-भेद से धाम-भेद दीखता है, परव्योम में उनकी ऐश्वर्यमयी लीला है। द्वारिका-मथुरा में ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रितालीला है। व्रज में ऐश्वर्य ज्ञान हीना शुद्ध माधुर्यमयी नर-लीला है। श्रीश्यामसुन्दर की व्रजलीला में देव-भावापन्न वा ऐश्वर्य भावापन्न कोई भी परिकर नहीं है। लक्ष्मीदेवी ने कान्ताभाव से व्रजलीला में श्रीश्यामसुन्दर की सेवा अभिलाषिणी होकर उत्कट तपस्या भी की थी, किन्तु उनको सेवा प्राप्त नहीं हुई। कान्ताभावमयी लीला केवलमात्र गोपीत्वाभिमानी रमणियों के साथ ही हुई। ब्राह्मण वंश जाता यज्ञ पत्नी रमणीगण भी कान्ताभावमयी सेवा को प्राप्त न कर सकीं।

किन्तु श्रीगौरसुन्दर की लीला में समस्त भाव के परिकर दीखते हैं। श्रीवास पण्डित में नारद का स्वभाव, ऐश्वर्यात्मक भाव है। वे थे श्रीलक्ष्मीनारायणके उपासक। श्रीमुरारीगुप्त थे श्रीराघवेन्द्र रामके उपासक। गौर-घरणी श्रीलक्ष्मीप्रियादेवी व श्रीविष्णुप्रियादेवी व्रज परिकर नहीं थीं। कवि कर्णपूर के मत से श्रीलक्ष्मीदेवी हैं स्वयं लक्ष्मी। व्रजलीला में उसकी अपूर्ण रही वासना को नवद्वीप लीला में श्रीकृष्ण ने पूर्ण किया। किन्हीं किन्हीं के मत में वह जानकी एवं रुक्मणी का मिलित विग्रह हैं। श्रीविष्णुप्रियदेवी हैं भू-स्वरूपिणी।

भावों की प्रतिकूलतावश ऐश्वर्य भावमय वैकुण्ठ के एवं ऐश्वर्यमिश्रित माधुर्यभावमय द्वारिका के जो समस्त परिकर हैं, श्रीकृष्ण माधुर्य आस्वादन की वासना उनकी उन उन धामों में अपूर्ण रह जाती हैं। रसत्व के एवं करुणा के सर्वातिशायी विकाशमय स्वरूप श्रीगौरसुन्दर, मालूम होता है, अपने नवद्वीप धाम में उन्हें अपना परिकरत्व प्रदान कर उनकी वासना को उनके आशातीतभाव से पूर्ण करते हैं।

नवद्वीप-लीला में और फिर एक परिकर में द्वापर के एकाधिक परिकरों का भी भाव दीखता है। जैसे श्रीरामानन्दराय में पाण्डुपुत्र अर्जुन का

श्रीकृष्ण के प्रिय नर्मसखा अर्जुन का, श्रीविशाखा सखी का, श्रीअर्जुनीया सखी का तथा सुबल का भाव भी दृष्ट होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि गौर-परिकरों में भावों का मिश्रण है, स्वरूपों का मिश्रण भी है, किन्तु व्रज परिकरों में इस प्रकार का मिश्रण नहीं दीखता है।

और फिर व्रज की कृष्णकान्ता गोपसुन्दरीगण नवद्वीप लीला में पुरुष देह धारण कर विराजित हैं। जैसे श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी, स्वरूप दामोदर, रायरामानन्द, नरहरि-सरकार ठाकुर, श्रीश्रीरूप-सनातनगोस्वामी आदि। व्रजलीला में वे सब गोपीदेह में अवस्थित थे। किन्तु नवद्वीप लीला में देह का पार्थक्य होते हुए भी इनमें भाव का कोई पार्थक्य नहीं है। व्रज की भांति नवद्वीप में भी उनका कान्ताभाव—महाभाव है। व्रजलीला में कान्तारस के आस्वादन में दैहिक सम्भोगादि भी है, किन्तु नवद्वीप-लीला में यह बात नहीं है। यह एक वैशिष्ट्य है। इससे विदित होता है—दैहिक-विलास ही आस्वादन की वस्तु नहीं है, आस्वादन की वस्तु है भाव, प्रेम। दैहिक-विलास तो प्रेमरस निर्यास के उत्सारण का एकतम उपाय मात्र है, वस्तुतः एकमात्र उपाय भी नहीं है।

(६) रस-स्वरूपत्व तथा करुणा—

श्रीलकविराज गोस्वामी ने लिखा है—

रसिक शेखर कृष्ण परम करुण ॥

श्री चै० चरितामृत १।४।१५

उनका रसिक शेखरत्व ही बड़ा गुण है या परम करुणत्व ही बड़ा गुण है—ठीक से नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है परम करुणत्व ही उनका सर्वश्रेष्ठ गुण है। परम-करुण होने से वे भक्त के वशीभूत हैं। भक्तवश्यता ही उनका सर्वश्रेष्ठ गुण है। दामबन्धन लीला में इस बात का प्रमाण पाया जाता है। भक्तवश्यता जबकि करुणा से उत्पन्न होती है, तब करुणा को ही सर्वश्रेष्ठ गुण कहा जाता है।

एक भाव से देखा जाय तो उनके रसिक-शेखरत्व को उनके परम-करुणत्व का अङ्ग कहा जा सकता है। परम करुण होने से ही वे रसिक-शेखर

हैं। उनके रसिक न होने से उनकी करुणा पुष्टिलाभ नहीं कर सकती। पत्र-पुष्प शाखा-प्रशाखाओं में सुसज्जित नहीं हो सकती। भक्त उनकी प्रीति-रस का भाण्डार लेकर श्रीकृष्ण के समीप उपस्थित हैं। श्रीकृष्ण की सेवा के व्यपदेश से भक्त उन्हें उस रसका परिवेशन कर श्रीकृष्ण को आस्वादन कराकर कृतार्थता लाभ करने के लिए उत्कण्ठित हैं। श्रीकृष्ण परम करुण होने से भक्त के इस प्रीति रस की उपेक्षा नहीं कर सकते। वे उसे अङ्गीकार करते हैं। परमानन्द पूर्वक आस्वादन करते हैं, केवल भक्त का आनन्द वर्द्धन करने के लिए। उन्होंने अपने श्रीमुख से भी कहा है। उनकी जितनी भी लीला है वह समस्त भक्तचित्त के विनोदन के उद्देश्य से ही है।

मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ॥

॥ पद्मपुराण ॥

इसलिए भक्त की आनन्दबर्द्धन की इच्छा से प्रीतिरस का आस्वादन है एवं प्रीतिरस का आस्वादन ही उनका रसिकत्व है। मुख्य है भक्त के आनन्दवर्द्धन की इच्छा—जिसका मूल है करुणा और रसास्वादन है गौण। करुणावशतः भक्तचित्त-विनोदन की इच्छा न उत्पन्न होने पर भक्त के प्रीतिरस आस्वादन की इच्छा भी नहीं हो सकती। इसलिए कहा गया है कि उनका रसिक-शेखरत्व है उनके करुणामयत्व का अङ्ग।

प्रश्न हो सकता है कि, रसिक-शेखर होने से ही वे परम करुण हैं; रसिक होने से ही उनकी रसास्वादन-स्पृहा है एवं इस स्पृहा के परिपूरण करने के लिए रसपात्र-भक्तों के प्रति उनकी करुणा है। यही बात भी तो हो सकती है? ऐसा यदि हो सकता है तो रसिक-शेखरत्व ही अङ्गी हो जाएगा और करुणत्व इसका अङ्ग।

इस सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि रसास्वादन की स्पृहा को परिपूरण करने के लिए ही श्रीकृष्ण प्रीतिरस के पात्र-भक्त के प्रति करुणा प्रकाश करते हैं—यह बात मन में लाते हुए श्रीकृष्ण में सङ्कीर्ण-स्वार्थपरता का आरोप करना होगा। सर्ववृहत्तम ब्रह्मवस्तु में किसी प्रकार की सङ्कीर्णता का स्थान नहीं है। और ऐसा विचार करने से भक्त के प्रति भी मानो अविचार करना होगा कि रस परिवेशन में वह मानो कृपा की प्रत्याशा पोषण करता है। उसकी रस-परिवेशन वासना की स्वतः स्फूर्त्तता नहीं रहेगी, किन्तु यह प्रीति विरोधी है।

एक दूसरी तरह से भी विषय की विवेचना की सकती है। भगवान् के प्रति भक्त की जैसी प्रीति होती है, भक्त के प्रति भगवान् की भी उसी प्रकार की प्रीति हुआ करती है।

साधवो हृदयं मह्यं साधुनां हृदयंत्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

श्रीभागवत ९।४।६८

इस प्रकार भगवदुक्ति है। यह प्रीति है स्वरूप-शक्ति की वृत्ति। स्वरूप-शक्ति की वृत्तिभूता इस प्रीति की स्वाभाविकी गति होती है परमुखी अर्थात् विषय-मुखी, किन्तु आश्रय-मुखी नहीं। इसलिए कविराज गोस्वामी ने कहा है—

प्रीति विषयानन्दे आश्रयानन्द।
ताहाँ नाहि निज सुख-वाञ्छार सम्बन्ध ॥

श्री चै० च० १।४।१६९

भक्त जैसे चाहता है एकमात्र भगवान् का सुख, भगवान् भी चाहते हैं एकमात्र भक्त का सुख। निज सुखवासना की गन्धमात्र भी किसी में नहीं है। श्रीउज्ज्वलनीलमणि के सम्भोग-प्रकरण के **"दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया।'**—इत्यादि श्लोक की टीका में श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने इसलिए लिखा है कि—**"आनुकूल्यात् परस्पर सुख तात्पर्यत्वेन पारस्परिकात्"** यह पारस्परिकी सुख-वासना दोनों में है। भक्त एवं भगवान्—इन दोनों में स्वाभाविकी है। प्रीति के स्वरूपगत धर्म के कारण ही ऐसा होता है। रसास्वादन की लालसा के कारण ही यदि भगवान् भक्त के प्रति प्रीति करें तो उनके भक्त के प्रति प्रीति स्वसुख वासनामयी हो जायगी, स्वाभाविकी नहीं रहेगी और न ही निरुपाधिकी ही रहेगी। किन्तु वस्तुतः एकमात्र करुणा से ही भक्त के प्रति प्रीति का उन्मेष है, रसास्वादन की वासना से नहीं। भक्त का आनन्दवर्द्धन ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। भगवान् के लिए भक्त-प्रेमरस-माधुर्य-आस्वादन की स्पृहा भक्त की आनन्दवर्द्धन की इच्छा की ही अङ्गीभूत है। इसी तत्त्व को प्रकट करने के लिए ही ब्रह्माजी ने कहा है—भक्त के आनन्द सम्भार को बढ़ाने के लिए ही श्रीभगवान् अवतीर्ण होते हैं;

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विड़म्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्द-सन्दोहं प्रथितं प्रभो॥

श्री भागवत १०।१४।३७

अप्रकट लीला में भी यही ही उनकी स्वरूपगत प्रधान वासना रहती है और प्रकट लीला में भी। इस समस्त आलोचना से स्पष्ट समझा जा सकता है कि रसिक-शेखरत्व को अङ्गी और करुणत्व को उसका अङ्ग स्वीकार करना सङ्गत नहीं है। वरन करुणत्व ही अङ्गी है और रसिक-शेखरत्व उसका अङ्ग है।

इस विषय की अन्यभाव से भी आलोचना की जा सकती है। भगवान् की करुणा भी उनकी स्वरूपशक्ति की वृत्ति है। इसलिए करुणा भी मधुर है। उनका रूपमाधुर्य जैसे उनके स्वरूपानन्द के अन्तर्भुक्त है, उसी प्रकार करुणा भी उनके स्वरूपानन्द के ही अन्तर्भुक्त है। वे रस स्वरूप होने से उनकी करुणा भी परम मधुर है। रूप की तरह करुणा भी स्वतःस्फूर्त्त है। रस-स्वरूपत्व के साथ रूप-माधुर्य का जैसे भेदाभेद सम्बन्ध है, करुणा व करुणा-माधुर्य का भी उसी प्रकार भेदाभेद सम्बन्ध है। रस स्वरूपत्व से रूप-माधुर्य जैसे अविच्छेद्य है, करुणा भी उसी प्रकार अविच्छेद्य है। जहां रस-स्वरूपत्व का विकाश है, वहां करुणा का भी विकाश है एवं रस-स्वरूपत्व का जितना विकाश है करुणा का भी उतना ही विकाश है। इसलिए जहां रस-स्वरूपत्व का पूर्णतम विकाश है, वहां करुणत्व का भी पूर्णतम विकाश है। यदि ऐसा ही है तो रस-स्वरूपत्व तथा करुणत्व के बीच अङ्गाङ्गि सम्बन्ध का प्रश्न उठाने का प्रयोजन ही नहीं रहता।

श्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण की अपेक्षा श्रीगौरसुन्दर-कृष्ण के रस-स्वरूपत्व का विकाश अधिक है, यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए श्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण से श्रीगौरसुन्दर-कृष्ण में करुणा का विकाश भी अधिक होगा ही। गौर-करुणा के सर्वातिशायी विकाश का उज्ज्वलतम दृष्टान्त है उनका निर्विचार पूर्वक प्रेम-वितरण।

श्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण भी प्रेमदान करते हैं, किन्तु साधारणतः निर्विचार पूर्वक प्रेमदान नहीं करते। इसलिए श्रीकविराज गोस्वामी ने लिखा है—

कृष्ण यदि छूटे भक्ते भुक्ति-मुक्ति दिया।
कभु प्रेमभक्ति ना देय राखे लुकाइया॥

श्री चै० च० १।८।१६

श्रीकृष्ण के पास से भुक्ति और मुक्ति प्राप्त कर साधक यदि सन्तुष्ट हो जाता है, अर्थात् अपने को वह यदि परम कृतार्थ मान लेता है, तो फिर श्रीकृष्ण उसे प्रेम-भक्ति नहीं देते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण यह जान लेते हैं कि भुक्ति तथा मुक्ति ही साधक को परमतम काम्य वस्तु है, प्रेम भक्ति नहीं। इसलिए यह साधक प्रेमभक्ति प्राप्ति के योग्य भी नहीं है। अतः वे उसे प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते हैं। यहां विचार देखा जाता है।

किन्तु श्रीगौरसुन्दर प्रेमदान के विषय में इस प्रकार का कोई भी विचार नहीं करते। योग्यता व अयोग्यता का कुछ भी विचार न करके प्रकट-लीला में प्रेमभक्ति का दान करते हैं। जो प्रेम चाहते हैं, उन्हें तो वे देते ही हैं, जो नहीं चाहते हैं, उन्हें भी वे देते हैं। "प्रेम देना है"—बस यही श्रीगौरसुन्दर जानते हैं। नहीं देना, यह तो वे जानते ही नहीं है। श्रीगौरसुन्दर की इस निर्विचार-पूर्वक करुणा की विशेषता को प्रकाशित करते हुए श्रीकविराज गोस्वामी ने लिखा ही है—

मागे वा ना मागे केहो—पात्र वा अपात्र।
इहार विचार नाहि—जाने दिव मात्र॥

श्री चै० च० १।८।२७

जिस प्रेम का दान किया, उसका भी अपूर्व वैशिष्ट्य है। श्रीश्याम-सुन्दर ने कान्ता-प्रेम दान नहीं किया; श्रीगौरसुन्दर ने उसे भी दान किया है, उसका भी एक कारण है।

श्रीश्यामसुन्दर-कृष्ण कान्ता-प्रेम के अखण्ड भण्डार के अधिकारी नहीं हैं; श्रीगौरसुन्दर-कृष्ण श्रीराधा-कृष्ण-मिलित स्वरूप होने से अखण्ड प्रेम भण्डार के अधिकारी हैं। इसलिए उन्होंने उन्नत-उज्ज्वल रस-स्वरूप स्वभक्ति सम्पत्ति अर्थात् कान्ता-प्रेम को भी निर्विचार पूर्वक सब को प्रदान किया। इतना अधिक करुणा का विकाश उन्हीं में ही है।

श्रीगौरसुन्दर ने अपनी करुणा को मानो स्वतन्त्रता दे दी और

करुणा को ही अपनी परिचालिका कर दिया था। श्रीकविराज गोस्वामी ने इसलिए लिखा—

एइ देख चैतन्येर कृपा महाबल।
तांर अनुसन्धान बिना करये सफल॥
श्री चै० च० २।१४।१४

श्रीगौरसुन्दर के अनुसन्धान बिना भी उनकी कृपा ने जीव को कृतार्थ कर दिया।

७– रस-स्वरूपत्व व असुर-संहार

इस-स्वरूपत्व के उत्कर्षवश श्रीगौरसुन्दर की करुणा के उत्कर्ष की बात पहले कह ही चुके हैं। करुणा के इस उत्कर्षवश ही असुर-संहार विषय में भी श्रीगौरसुन्दर का अपूर्व वैशिष्ट्य है।

श्रीश्यामसुन्दर ने असुर संहार किया—असुरों के प्राण विनाश करके; किन्तु श्रीगौरसुन्दर ने असुरों का संहार किया है असुरों का असुरत्व विनाश करके, प्राण-विनाश करके नहीं। श्रीश्यामसुन्दर का असुर संहार भी असुरों के प्रति उनकी करुणा है, क्योंकि संहारित असुर भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर जाते हैं, किन्तु असुर जब तक जीवित रहते हैं, तब तक वे इस करुणा की उपलब्धी नहीं कर पाते, उनके माधुर्य के अनुभव की बात तो दूर रही। किन्तु श्रीगौरसुन्दर के असुर संहार में अर्थात् असुरत्व के संहार में असुरगण करुणा का एवं करुणा के माधुर्य का अनुभव एवं आस्वादन प्राप्त कर एक अनिर्वचनीय परमानन्द प्राप्त करते हैं। रस-स्वरूप के रस-फंवारे श्रीगौरसुन्दर की असुर-संहार लीला को भी माधुर्य-मयी कर देते हैं।

८– रसस्वरूपत्व एवं गतिदायकत्व

स्वयं भगवान् हतारि-गतिदायक हैं। श्रीश्यामसुन्दर एवं श्रीगौर-सुन्दर दोनों रूप ही उनके हाथों से संहारित असुरों को गति प्रदान करते हैं। किन्तु दोनों द्वारा प्रदत्त गति तथा गति के प्रसार का रूप एक नहीं है।

श्रीश्यामसुन्दर अपने हाथों से मारे हुए असुरों को सायुज्य मुक्ति देते हैं। सायुज्यमुक्ति में सेव्य-सेवक भाव स्फुरित ही नहीं होता, श्रीकृष्ण-चरण-सेवा के आनन्द-प्राप्ति की बात तो दूर रही। असुरों में रहती है भगवान् के प्रति प्रतिकूलता। इसलिए असुर भगवत्-सेवा व भगवत्-प्रेम के सौभाग्य से वञ्चित रहते हैं। श्रीश्यामसुन्दर उस प्रतिकूलता को दूर नहीं करते। असुरों के लिए उनकी करुणा का विकाश केवल मुक्तिदान पर्यन्त एवं ब्रह्मानन्द के आस्वादन-दान पर्यन्त होता है। असुरों की सायुज्य मुक्तिरूपा गति केवल सिद्धलोक तक सीमित है।

किन्तु श्रीगौरसुन्दर के असुरत्व विनाशरूप असुर-संहार में एक अपूर्व विशेषता है, पूर्णतम-विकाशमय रस-स्वरूपत्व की रसधारा की प्रबल बाढ़ में असुरत्व आवेश दूर बह जाता है और उसके साथ साथ उस की भगवत्-प्रतिकूलता भी सम्यक्रूप से धुल जाती है। और रस–स्वरूपत्व की अपूर्व विकाश वैचित्री रूप करुणा उस प्रतिकूलता की जगह पर भगवद् अनुकूलता को स्थापन करके ब्रह्मादिक के लिए भी दुर्लभ व्रजप्रेम प्रदान कर देती है। यह प्रेम-प्राप्तिरूपा गति प्राकृत ब्रह्माण्ड, विरजा, सिद्धलोक, परव्योम एवं द्वारिका मथुरा को अतिक्रमण कर शुद्ध माधुर्यमय धाम व्रज-लोक में जाकर अवस्थिति प्राप्त करती है।

इस से स्पष्ट है कि गतिदायकत्व का भी एक अद्भुत वैशिष्ट्य विकाश है श्रीगौरसुन्दर में।

व्रजलीला व नवद्वीपलीला

श्रीश्रीगौरसुन्दर जैसे श्रीकृष्ण के ही अविर्भाव-विशेष हैं, नवद्वीप धाम भी उसी प्रकार श्रीव्रजधाम का आविर्भाव-विशेष है। ब्रह्माण्ड में वह केवल प्रकटित हुआ है।

श्रीश्रीश्यामसुन्दर में तथा श्रीगौरसुन्दर में जैसे स्वरूपगत कोई भेद नहीं है। व्रजलीला तथा नवद्वीपलीला में भी उसी प्रकार स्वरूपगत कोई भेद नहीं है। रसिक शेखर परब्रह्म ने व्रजधाम में जिस लीला-स्रोत को प्रवाहित किया, वही स्रोत प्रबल वेग धारण कर नवद्वीप में आकर

उपस्थित हुआ, किन्तु अनादि काल से ही। नवद्वीपलीला तथा व्रजलीला—ये दोनों रसिक-शेखर की एक ही लीला के प्रवाह के दो अंशमात्र हैं। रसिक-शेखर के असमोर्ध्व माधुर्यमय लीला समूह का पूर्वांश है व्रजलीला और उत्तरांश है नवद्वीपलीला।

अनेक कारणों से यह भी लगता है कि व्रजलीला की परिणत अवस्था ही है नवद्वीपलीला। जिस उद्देश्य को लेकर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन अपनी लीला को प्रकटित करते हैं, उसी उद्देश्य-सिद्धि का आरम्भ होता है व्रज में और पूर्णता होती है नवद्वीप में। उनकी लीला-प्रकटन का मुख्य उद्देश्य है—भक्तों के प्रेम-रस निर्यास का आस्वादन एवं गौण उद्देश्य है राग मार्ग की भक्ति का प्रचार।

प्रेमरस निर्यास करिते आस्वादन।
रागमार्ग-भक्ति लोके कारिते प्रचारण॥
रसिक-शेखर कृष्ण परम-करुण।
एइ दुइ हेतु हैते इच्छार उद्गम॥

श्रीचै० च० १।४।१४-१५

इन दोनों उद्देश्यों में भक्तों का प्रेम-रस निर्यास आस्वादन करना है रसिक-शेखर की स्वरूपानुबन्धिनी नित्य-लीला। वह लीला अप्रकट धाम में भी है और प्रकट-धाम में भी। प्रकट-लीला की विशेषता यही है कि जिस प्रेम-रस-वैचित्री का आस्वादन अप्रकट धाम में सम्भव नहीं है, उसका वह प्रकट लीला में आस्वादन करते हैं। प्रकट-धाम में जन्मादि लीला होने के कारण वह सम्भव है; और राग-मार्ग भक्ति का प्रचार जीव-विषयिणी लीला है जो केवल प्रकट-लीला में ही हुआ करता है।

प्रकट एवं अप्रकट—इन दोनों प्रकार की लीलाओं में श्रीकृष्ण अपनी स्वरूपानुबन्धिनी रसास्वादिका लीला ही किया करते हैं एवं अशेष-विशेष रूप से परिकर-भक्तों के प्रेम-रस-निर्यास का आस्वादन भी किया करते हैं। तथापि उनकी रसास्वादन-वासना पूर्ण नहीं हो पाती है। भक्तों के प्रेम-रस-निर्यास आस्वादन करने की वासना पूर्ण हो जाती है—यह मान लिया जाए, प्रकट एवं अप्रकट इन दोनों लीलाओं के समवाय में, किन्तु स्वीय असमोर्ध्व-माधुर्य रस को वे आस्वादन नहीं कर पाते, न तो प्रकट-लीला में, न

अप्रकट में। इसका कारण यही है कि श्रीकृष्ण-माधुर्य पूर्णतमरूप से आस्वादन करने का एक मात्र उपाय है श्रीराधा का मादनाख्य-महाभाव। व्रजलीला में श्रीकृष्ण इस मादनाख्य-महाभाव के केवल मात्र विषय हैं, आश्रय नहीं। इस प्रेम के आश्रय हुए बिना कृष्ण-माधुर्य का पूर्णतम आस्वादन सम्भव ही नहीं है। राधा-कृष्ण मिलित श्रीगौरसुन्दर रूप में यह मादनाख्य-महाभाव विद्यमान है। इसलिए इस रूप में कृष्ण-माधुर्य का आस्वादन सम्भव है। रसिक-शेखर परब्रह्म श्रीगौरसुन्दर रूप से अपना माधुर्य आस्वादन करते हैं प्रकट-नवद्वीपमें तथा अप्रकट-नवद्वीप में भी। यहाँ यह देखा जाता है कि रस-आस्वादन की जो वासना व्रजलीला में अपूर्ण रहती है, वह नवद्वीप-लीला में पूर्णता लाभ करती है।

बाकी बात रही करुणावश रागमार्ग के भक्ति-प्रचार की। कुरुक्षेत्र में श्रीअर्जुन को उपलक्ष्य कर श्रीकृष्ण ने—**"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु"** इत्यादि वाक्यों में राग-मार्ग भक्ति का उपदेश किया था, वह भी केवल दिग्दर्शन रूप से। नवद्वीप लीला में श्रीगौर-कृष्ण रूप से श्रीपाद सनातन गोस्वामी को उपलक्ष्य कर राग-मार्ग भक्ति का विस्तृत विवरण प्रदान किया। दूसरी बात यह है कि द्वापर लीला में श्रीअर्जुन को उन्होंने उपदेश मात्र ही दिया था, किन्तु भजन का कोई आदर्श स्थापन नहीं किया। किन्तु कलि में श्रीगौरसुन्दर रूप की लीला में उनका सङ्कल्प था—

आपनि आचरि भक्ति शिखाइमु सभाय।
आपने ना कैले धर्म शिखान ना जाय॥

श्रीचै० च० १।३।१८-१९

—"मैं स्वयं भक्ति का आचरण कर सब को भक्ति की शिक्षा दूँगा क्यों कि स्वयं आचरण किए बिना किसी धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती।"

नवद्वीपलीला में भक्तभाव को अङ्गीकार कर उन्होंने स्वयं भी भजन का आदर्श स्थापन किया और अपने पार्षदों द्वारा भी कराया। उससे जीव-जगत् ने भजन का अति उज्ज्वल आदर्श प्राप्त किया।

तीसरी बात यह है कि आदेशानुरूप भजन में जीव को आकृष्ट करने के उद्देश्य से व्रजलीला में श्रीकृष्ण ने ऐसी सब लीलाएं प्रकटित कीं, जिनकी कथा सुनकर लोग भजन के लिए लुब्ध हो सकें—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

श्रीभागवत् १०।३३।३६

व्रजलीला में अपने परिकरों के साथ लीला कर, उनकी सेवा में कैसा अपूर्व व अनिर्वचनीय आनन्द है, उनके सङ्ग एक ही साथ लीलारस-सागर में उन्मज्जित-निमज्जित होते हुए तैरते हुए जो अपरिसीम आनन्द का उपभोग सम्भव है, उसकी कथा सुनवाने की व्यवस्था की। किन्तु उस लीला को उन्होंने जीव को नहीं दिखाया। किन्तु श्रीगौरसुन्दर रूप से नवद्वीप-लीला में उन्होंने प्रेमानन्द की विभिन्न वैचित्री प्रकट कर उसे लोगों के गोचरीभूत कराया। व्रजलीला में केवल सुनाया था, नवद्वीप-लीला में उसे साक्षात् दिखा दिया।

इस प्रकार देखा जाता है कि उनका राग-मार्ग भक्ति-प्रचार भी आरम्भ हुआ व्रज में और पूर्ण हुआ नवद्वीप में।"

रसिक-शेखर की प्रेमवश्यता के विकाश में भी व्रजलीला की अपेक्षा नवद्वीप-लीला का उत्कर्ष है। व्रज में रासलीला में—"**न पारयेऽहं निरवद्य-सयुजाम**" इत्यादि (श्रीभा० १०।३२।२२) वाक्य से केवल मुहँ से ही व्रज-सुन्दरीगण के प्रेम के सामने श्रीकृष्ण ने अपने को ऋणी कहकर स्वीकार किया, किन्तु उस ऋण की चुकती कहां हुई? वह नवद्वीप लीला में ही दीखती है। नवद्वीप लीला में उन्होंने श्रीराधा के भाव-कान्ति को अङ्गीकार कर कार्यतः उस ऋण का शोधन किया है और ऋणत्व के पर्यवसान को दिखाया है।

श्रीराधा-कृष्ण के मिलन-रहस्य की दृष्टि से भी नवद्वीप लीला को व्रजलीला की परिणत अवस्था कहा जा सकता है। नितान्त घनिष्टत म मिलन में भी व्रज में दोनों के अङ्ग प्रत्यङ्ग का ज्ञान लुप्त नहीं हो पाया, किन्तु नवद्वीप में दोनों मिलकर एक हो गए—"रसराज महाभाव दुई एक रूप।"

लीला का स्वरूप जाना जाता है परिकर के स्वरूप द्वारा। श्रीकृष्ण की व्रजलीला के परिकर वर्ग भी नवद्वीप लीला का उपयोगी शरीर धारण कर नवद्वीप में विराजमान है। इसके द्वारा भी व्रजलीला तथा नवद्वीप-लीला की स्वरूपगत अभिन्नता सूचित होती है।

इन समस्त कारणों से कहा जा सकता है कि नवद्वीप-लीला व व्रजलीला में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। ये एक लीला के ही दो भिन्न भिन्न अंश मात्र हैं। दोनों लीलाओं से ही रसिक-शेखर की लीला पूर्णता प्राप्त करती है।

नवद्वीप लीला व व्रजलीला एक ही सूत्र में ग्रथित हैं। इसलिए एक को छोड़ने में समग्रलीला के सौन्दर्य की एवं उपभोग्यत्व की हानि होती है। नवद्वीप लीला में श्रीगौरसुन्दर राधाभावाविष्ट होकर व्रजलीला का ही आस्वादन करते हैं। इसलिए व्रजलीला ही नवद्वीप-लीला की उपजीव्य एवं पोषक है। इसलिए व्रजलीला को छोड़कर नवद्वीप-लीला अनेकांश में शुष्क हो जाती है और नवद्वीप-लीला को छोड़ने से व्रजलीला की भी माधुर्य वैचित्री एवं आस्वादन की उन्मादना मानो फीकी पड़ जाती है। मधु स्वतः ही आस्वाद्य है, यह बात सत्य है, किन्तु घनीभूत अमृतमय पात्र में डाल कर यदि मधु आस्वादन किया जाए तो अवश्य ही उसका माधुर्य सर्वाति-शायी भाव से वर्द्धित हो जाता है और यदि उसके साथ कपूर मिला दिया जाए तो उसके आस्वादन की उन्मादना और भी बढ़ जायगी। व्रजलीला मधु स्वरूप है और नवद्वीप-लीला मानो कपूरमिश्रित घनीभूत अमृत पात्र है। श्रीमन्महाप्रभु साक्षात् माधुर्यमूर्त्ति हैं। वे भी नवद्वीप-लीला में व्रजरस के परिवेशक हैं। रस के घड़े में रहते हुए उसका आस्वादन नहीं मिलता। परिवेशक की परिवेशक-चातुरी पर ही आस्वादन की विचित्रता निर्भर करती है। रसिकेन्द्र-चूड़ामणि श्रीमन्महाप्रभु मत परिवेशन-चातुरी अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए नवद्वीप-लीला को छोड़कर व्रजलीला की माधुर्य-वैचित्री एवं आस्वादन-उन्मादना फीकी पड़ सकती है। व्रजलीला रूप अमूल्य रत्न नवद्वीप-लीला रूप समुद्र में ही प्राप्त किया जा सकता है।

कृष्ण लीलामृत सार, तार शत शत धार,
दशदिगे बहे याहा हैते।

से गौराङ्ग लीला हय, सरोवर अक्षय,
मनोहंस चराह ताहाते ॥

श्री चै० चरितामृत २।२५।२२३

श्रीनरोत्तमदास ठाकुर महाशय ने कहा है—

गौरप्रेम-रसार्णवे, से तरङ्गे येवा डुबे,
से राधा-माधव अन्तरङ्ग ॥

इन समस्त कारणों से श्रीगौरसुन्दर एवं श्रीश्यामसुन्दर की श्रीनवद्वीप-लीला तथा श्रीव्रजलीला दोनों ही समान भाव से भजनीय हैं। दोनों लीलाओं की सेवा ही साधक के लिए समान भाव से वाञ्छनीय है। यही बात ही श्रीनरोत्तमदास ठाकुर महाशय ने कही है—"**एथा गौरचन्द्र, पाव सेथा राधाकृष्ण।**" दोनों लीलाओं के आस्वादन में एवं दोनों लीलाओं की सेवा में ही रसिक-शेखर की रसमयी लीला का पूर्णतम आस्वादन है, पूर्णतम सेवा है।

श्रीगौरसुन्दर का उपास्यत्व

'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' इत्यादि श्लोक में श्रीगौरसुन्दर को वर्त्तमान कलि का उपास्य कहकर घोषणा की गई है।

करुणा ही भजनीय गुण समूह में सर्वश्रेष्ठ गुण है। श्रीगौरसुन्दर में करुणा का इतना विकाश है कि भजन-साधन की अपेक्षा न रखकर भी वे निर्विचारपूर्वक आपामर-साधारण को ब्रह्मादिक के लिए भी दुर्लभ व्रज-प्रेम प्रदान करते हैं। और किसी भी लीला में इस प्रकार की करुणा का विकाश नहीं दीखता।

जो जीव श्रीगौरसुन्दर के प्रकटकाल में ब्रह्माण्ड में आए थे, वे समस्त ही श्रीगौर की करुणा से उद्धार को प्राप्त हो गए। परवर्त्ती काल के जीवों के लिए भी प्रभु की करुणा का अभाव नहीं है। परवर्त्ती काल के जीवों के लिए उन्होंने भजन का आदर्श स्थापन किया एवं भजन प्रणाली का भी

प्रचार किया। उन्होंने अपनी लीला अन्तर्हित कर दी, यह ठीक है किन्तु जो साधक उनके प्रदर्शित आदर्श का अनुसरण कर उनके प्रचारित मार्ग का भजन कर रहे हैं या करेंगे, अखण्ड प्रेम-भण्डार लिए हुए उनके लिए वे अब भी अपेक्षा कर रहे हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है—सायुज्य-मुक्ति चाहने वाले ज्ञान-मार्ग के साधन से जो मुक्ति की प्राप्ति है, वह भले सुलभ है, कर्ममार्ग का अनुसरण कर भोगादिक के जो इच्छुक हैं, उनके लिए इहकाल के सुख-सम्पद और परकाल के स्वर्गादि सुख प्राप्त कर लेना भी सुलभ है, किन्तु सहस्र सहस्र साधन से हरि भक्ति या प्रेम-भक्ति की प्राप्ति सुदुर्लभ है।

ज्ञानतः सुलभामुक्तिर्भुक्तियज्ञादिपुण्यतः।
येयं साधन सा तस्त्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥

भक्तिरसामृतसिन्धु १।१।२३

हरिभक्ति की यह सुदुर्लभता दो प्रकार की है। एक तो, यह किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरे, प्राप्त होती है, किन्तु सहज में नहीं। जबतक चित्तमें इहकाल और परकाल के सुख-सम्पदाओं वा मुक्ति की वासना रहती है, तब तक प्राप्त नहीं की जा सकती। अनासङ्ग भजन से अर्थात् साक्षात् भजन की प्रवृत्ति के भाव बिना भजन से किसी प्रकार भी हरि-भक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती; और सासङ्ग भजन से अर्थात् साक्षात् प्रवृत्ति पूर्वक भाव के भजन से या श्रीकृष्ण के सामने उपस्थित होकर उनकी प्रीति के उद्देश्य से भजनाङ्ग के अनुष्ठान करते करतेजब चित्त से भुक्ति मुक्ति की वासना दूर हो जाती है और श्रीकृष्णचरण-सेवा की वासना उत्कण्ठामयी हो उठती है, तभी ही हरिभक्ति—प्रेमभक्ति प्राप्त होती है।

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा स्यात् सा सुदुर्लभा ॥

भक्तिरसामृतसिन्धु १।१।२२

श्रीमन्महाप्रभु ने ऐसी सुदुर्लभ प्रेमभक्ति को निर्विचारपूर्वक सब के लिए लुटा दिया।

हेन प्रेम श्रीचैतन्य दिल यथा तथा।
जगाई-माधाई पर्यन्त आनेर का कथा॥

श्रीचै० चरितामृत १।८।१७

ऐसी सुदुर्लभा प्रेमभक्ति श्रीचैतन्य ने जहां तहां लुटा दी। जगाई-माधाई तक ही दे डाली, औरों की तो बात ही क्या है?

अन्तर्धान होने के पश्चात् भी ऐसी सुदुर्लभा प्रेमभक्ति के देने के लिए श्रीमन्महाप्रभु सदा व्याकुल रहते हैं।

करुणा का ऐसा अपूर्व विकाश जिन में है, वह भजनीयगुण के निधि हैं, इस में कुछ सन्देह नहीं रह जाता।

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्नि गौरत्विषे नमः॥

इसलिए हम महावदान्य-परम दानी श्रीकृष्ण-प्रेम प्रदाता-कृष्णचैतन्य नामक गौरवर्ण विशिष्ट श्रीकृष्ण के लिए बारम्बार नमस्कार करते हैं।

सम्भवामि युगे युगे

१— श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा था—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

श्रीगीता ४।७–८

—हे भारत! जब जब ही धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब ही, मैं आविर्भूत होता हूँ। साधुगण की रक्षा के लिए असाधुओं के विनाश के लिए तथा धर्म संस्थापन के उद्देश्य से मैं युग युग

में अवतीर्ण होता हूँ।"

यहाँ 'यदा यदाहि'–वाक्य से कोई ऐसा जान लेते हैं कि साधुओं की रक्षा के लिए भगवान् जब तब ब्रह्माण्ड में अवतार लेते हैं। उनके अवतरण का समय वार- संख्या सम्बन्धी और कोई नियम नहीं है। श्रीपादरामानुजाचार्य ने यही बात स्पष्ट भाव से लिखी है—**"यदा यदाहीति। न काल-नियमः अस्मत्सम्भवस्य**(श्रीगीता ४।७ श्लोक टीका)—अर्थात् (श्रीकृष्ण कहते हैं)मेरे अवतीर्ण होने का कोई काल-नियम नहीं है और 'युगे युगे'—इन दोनों शब्दों का अर्थ भी इन्होंने लिखा है—**"युगे युगे सम्भवामि कृत-त्रेतादियुगेषु विशेषनियमोऽपि नास्तीत्यर्थः**—अर्थात् मैं युग युग में अवतार ग्रहण करता हूँ; सत्य,त्रेतादि युग का कोई विशेष नियम नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहता है—उसे अब देखते हैं।

श्रीभगवान् तीन रूपों से ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं—स्वयं रूप से, लीलावतार रूप से तथा युगावतार रूप से।

स्वयं रूप से अवतरण के सम्बन्ध में श्रीकविराज गोस्वामी ने कहा है—

ब्रह्मार एक दिने तिंहो एकबार।
अवतीर्ण हय्या करेन प्रकट बिहार॥

श्री चै० च० १।३।४

ब्रह्मा के एक दिन में हमारे हिसाब से ४२९,४०८,०००० वर्ष (विष्णु-पुराण के मतानुसार हमारे ४३२,००००,००० वर्ष होते हैं। इस समय के बीच में स्वयं भगवान् केवल एक बार ही अवतीर्ण होते हैं। एक बार से अधिक नहीं। श्रीमद्भागवत् के प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का एक बार मात्र अवतार लेना लिखा गया है। इसलिए स्वयं भगवान् के अवतार का कोई काल या नियम नहीं है—शास्त्र ऐसा नहीं कहता। ब्रह्मा के एक दिन में हजार चतुर्युग होते हैं। उनमें किसी एक द्वापर में वे अवतार ग्रहण करते हैं—ऐसा नियम दिखाई देता है।

लीलावतारों के अवतरण के विवरण में भी श्रीमद्भागवत् (प्रथम स्कन्ध तृतीय अध्याय) में उल्लेख है। उनके किसी भी लीलावतार की

एक से अधिक बार अवतार ग्रहण करने को बात वर्णन नहीं की गई है। एकबार ही अवतरण की बात वर्णन की गई है। इसलिए लीलावतारगण जब-तब अवतीर्ण होते हों, शास्त्र से ऐसा ज्ञात नहीं होता।

लीलावतार कलियुग में अवतीर्ण नहीं होते, ऐसा एक नियम दीखता है।

कलियुगे लीलावतार ना करे भगवान्।
अतएव त्रियुग करि कहे तार नाम॥

श्री चै० चरितामृत २।६।९७

—'कलियुग में श्रीभगवान् लीलावतार धारण नहीं करते। इसलिए उन्हें 'त्रियुग' नाम से अभिहित किया जाता है।"

तीसरे हैं युगावतार। चारयुगों के लिए चार प्रकार के युगावतार हैं। सत्ययुग में शुक्ल, त्रेता में रक्त, द्वापर में श्याम (शुकपत्राभवर्ण) तथा कलि में कृष्ण (स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नहीं, उनके एक अंश जो कृष्णवर्ण से अवतीर्ण होते हैं। एक युग का युगावतार दूसरे युग में अवतीर्ण नहीं होता। जो जिस युग का युगावतार है, वह केवल उसी युग में ही अवतीर्ण होता है। इसलिए किस युग का कौनसा अवतार है—यह बात निर्धारित है। कोई भी युगावतार अपने युग में एक से अधिक बार अवतीर्ण होता हो—शास्त्र में इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है। इसलिए युगावतारों के अवतरण के सम्बन्ध में भी किसी समय का कोई नियम न हो—ऐसा कहना सङ्गत नहीं है।

बल्कि किस समय युगावतार अवतीर्ण नहीं होता, इस बात का एक नियम पाया जाता है। जिस युग में स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं, उस युग का युगावतार फिर पृथक् भाव से अवतीर्ण नहीं होता। स्वयं भगवान् में ही वह विद्यमान रहता है एवं स्वयं भगवान् के बीच रह कर ही स्वयं भगवान् के अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा वह युगावतार अपना कार्य निर्वाह करता है। उस युग में युगावतार के अवतरण के समय ही स्वयं भगवान् अवतीर्ण हुआ करते हैं।

किन्तु कृष्णेर येइ हय अवतार-काल।
भारहरण-काल ताते हइल मिशाल॥

श्री चै० च० १।४।८

—किन्तु जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का अवतीर्ण होने का समय होता है, पृथ्वी के भारहरण का काल अर्थात् युगावतार के अवतीर्ण होने का काल उसी काल में आकर मिल जाता है।

पृथ्वी के भारहरण का कार्य युगावतार रूप से जगत् के पालनकर्त्ता (क्षीरसमुद्रशायी गुणावतार) श्रीविष्णु का है।

स्वयंभगवानेर कर्म नहे भार-हरण।
स्थितिकर्त्ता विष्णु करे जगत पालन॥

श्रीचै० च० १।४।७

भार-हरण स्वयं भगवान् का यदि कार्य होता, तो प्रत्येक युग में उन्हें ही अवतीर्ण होना पड़ता, फिर युगावतारों का कोई प्रयोजन ही न होता।

इस प्रकार युगावतारों के अवतरण के नियम भी शास्त्रों में वर्णित है। वे भी जब-तब अवतीर्ण नहीं होते। एक युग में एक से अधिक बार भी अवतीर्ण नहीं होते। जिस युग में स्वयं भगवान् के अन्तर्भुक्त होकर अवतीर्ण होते हैं, उस युग में भी युगावतार पुनः पृथक् भाव से अवतीर्ण नहीं होते।

अवश्य जिस युग में स्वयं भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई लीलावतार अवतीर्ण होता है, उस युग में युगावतार भी यथा समय पृथक् भाव से अवतीर्ण हुआ करता है। उस युग का युगावतार उस लीलावतार के अन्तर्भुक्त होकर नहीं रहता। एकमात्र स्वयं भगवान् ही 'निखिलावतार समष्टिरूपः' होने से उनके अन्तर्भुक्त युगावतार होकर रहता है, अन्य कोई भी भगवत्-स्वरूप निखिलावतार-समष्टिरूपः नहीं है।

यदि भगवान् जब-तब ही अवतीर्ण हुआ करते, तो केवल 'यदा यदाहि' इत्यादि कहकर भगवान् चुप हो जाते। फिर उन्हें 'सम्भवामि युगे युगे' कहने की जरूरत न थी। 'यदा-यदाहि,-वाक्य का तात्पर्य क्या है,उसे ही 'सम्भवामि युगे युगे'—वाक्य में प्रकाशित किया गया है एवं वे जब-तब अवतीर्ण नहीं होते—यह बात भी इसी वाक्य में प्रकाशित की गई है। वे युग युग में अवतीर्ण हुआ करते हैं। 'सम्भवामि युगे युगे' वाक्य में 'यदा

यदोहि' वाक्य के व्यापकतम अर्थ को संवृचित कर दिया गया है। इसलिए श्रीपाद शंकर, श्रीपाद हनुमान, श्रीपाद मधुसूदन आदि भष्यकारगण ने लिखा है कि 'युगे युगे' प्रतियुगम्।" श्रीमाद विश्वनाथ चक्रवर्त्ती पाद ने लिखा है—'युगे युगे प्रतियुगं प्रतिकल्पं वा।' प्रतिकल्पम्—शब्द से स्वयं भावान् के अवतरण की बात भी उल्लिखित की गई है। वे एक कल्प में (ब्रह्मा के एकदिन में) एक बार अवतीर्ण होते हैं। और श्रीपाद श्रीधर स्वामी व श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण ने लिखा है—'युगे युगे तन्नदवसरे, तत्तत् समये।'—इन समस्त भाष्यकारों के लिखित अर्थ का तात्पर्य यही है कि प्रतियुग में भगवान् युगावतार के रूप से अवतीर्ण होते हैं, जब-तब अवतीर्ण नहीं होते।

उल्लिखित आलोचना से जाना जाता है कि भगवान् जब तब अवतीर्ण नहीं होते। उनके अवतरण के समयादि के सम्बन्ध में उनकी इच्छाधीन नियम है। प्रति युग में युगावतार के रूप में वे एक बार अवतीर्ण होते है और स्वयं भगवान् रूप से एक कल्प में एक बर; तथा एक लीलावतार-रूप से भी एक ही बार अवतीर्ण होते हैं; अधिक नहीं। कलि में लीलावतार रूप से अवतीर्ण नहीं होते; और जिस युग में स्वयं-भावान् अवतीर्ण होते हैं, उस युग में युगावतार फिर पृथक् रूप से अवतीर्ण नहीं होता।

कोई यह भी कह सकता है—ब्रह्मा के एकदिन में स्वयं भगवान् क दो बार भी तो अवतरण देखा जाता है? एकबार द्वापर में श्रीकृष्ण-रूप से और फिर एक बार उसी द्वापर के ठीक परवर्त्ती कलियुग में श्रीगौराङ्गरूप से वे अवतीर्ण होते हैं।

इसका उत्तर यह है कि जिस उद्देश्य से स्वयं भगवान् ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं, उसी उद्देश्य-सिद्धि की सम्यक् पूर्णता तक ही उनका लीला-प्रवाह चलता रहता है; नहीं तो उनके अवतरण की सम्पूर्णरूप से सार्थकता नहीं होती। स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं—रागमार्ग की भक्ति के प्रवर्त्तन करने के लिए। पहले ही कह जा चुका है—इसी उद्देश्यसिद्धि क आरम्भ हुआ द्वापर की व्रजलीला में और पूर्णता हुई कलि की नवद्वीप लीला में। द्वापर-लीला में यह उद्देश्यसिद्धि जितनी अपूर्ण रहती है,

वह द्वापर-लीला में पूर्ण हो ही नहीं सकती। श्रीकृष्ण रूप से जिसे वे पूर्ण कर ही नहीं सकते; यह बात पहले कह आए हैं। भक्त भावमयी लीला न होने से वह पूर्णता लाभ कर ही नहीं सकती। श्रीकृष्ण की द्वापर-लीला भक्त भावमयी नहीं है। उनकी श्रीगौररूप से नवद्वीप लीला ही भक्त भावमयी है। इसलिए गौरलीला में उद्देश्य-सिद्धि की पूर्णता सम्भव है।

एक ही लीला में भक्तभाव और भगवद्भाव सम्भव नहीं है। उससे लीला का नित्यत्व नहीं रहता, स्वरूपगत भाव का भी नित्यत्व नहीं रहता। इसलिए उन्हें दो रूपों में अवतीर्ण होना पड़ा एवं दोनों भावों की लीला भी प्रकटित करनी पड़ी। ऐसा न करने पर उद्देश्य-सिद्धि की पूर्णता न होती।

दोनों रूपों के अवतरण के समय का पार्थक्य भी अधिक नहीं है। श्रीकृष्ण रूप से वे अवतीर्ण हुए थे द्वापर के शेष में।

अष्टाविंश चतुर्युगे द्वापरेर शेषे।
व्रजेर सहित हय कृष्णेर प्रकाशे॥

श्री चै० च० १।३।८

और श्रीगौररूप से वे अवतीर्ण हुए उसी चतुर्युगी के अन्तर्गत कलि की प्रथम सन्ध्या में।

एत भावि कलिकाले प्रथम सन्ध्याय।
अवतीर्ण हैला कृष्ण आपनि नदीयाय॥

श्री चै० च० १।३।२२

द्वापर के शेष में श्रीकृष्ण रूप से एवं कलि की प्रथम सन्ध्या में श्रीगौररूप से स्वयं भगवान् ने राग धर्म-प्रवर्त्तककारिणि एक ही लीला को प्रकट किया। इसलिए बाह्यदृष्टि से उनका दो बार अवतरण दीखते हुए भी लीला-प्रवाह एवं लीला प्रकटन के उद्देश्य की अभिन्नता क्षीण नहीं होते हैं। इसलिए द्वापर-लीला व कलि-लीलाको एक दूसरे से विच्छिन्न दो पृथक् लीलाएं नहीं कहा जा सकता। एक ही लीला प्रवाह है मध्य में कुछ विराम माना है। द्वापर में, व्रज में कुछ समय लीला कर श्रीकृष्ण ने मथुरा एवं द्वारका में जाकर लीला की। तब प्रकट व्रजलीला का विराम है। दन्तवक्र-वध

करते हुए महान सुख को प्राप्त करेंगे। लोक मर्यादा की रक्षा के लिए ही मेरा यह संन्यास होगा। इसलिए आप सब चिन्ता को दूर कीजिए।"

लोक परम्परा प्रभु के संन्यास के सङ्कल्प की बात सुनकर श्रीशची-माता अत्यन्त व्याकुल हो उठीं। उनको सान्त्वना देने के लिए प्रभु ने उनके सामने भी एक 'गोप्य कथा' प्रकाश की। प्रभु ने कहा—'मां'! केवल इस जन्म में ही मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हुआ हूँ, जन्मजन्म की तुम मेरी माता हो। कभी तो तुम थीं पृश्नि, तब भी तुम मेरी माता थीं। उसके बाद तुम स्वर्ग लोक में अदिति थीं और मैं वामन रूप से आपका पुत्र बना। उसके बाद फिर तुम देवहूति बनीं, तब भी मैं तुम्हारा पुत्र बना और मेरा नाम था कपिल फिर तुम कौशल्या थीं और मैं तुम्हारा पुत्र राम था। फिर तुम मथुरा में देवकी थीं और कंस के कारागार में बन्द थीं, तब भी मैं तुम्हारा पुत्र था, और भी सुनो मां!

आरो दुइ जन्म एइ सङ्कीर्त्तनारम्भे।
हइब तोमार पुत्र आमि अविलम्बे॥
एइमत तुमि मोर माता जन्मे जन्मे।
तोमार आमार कभु त्याग नाहि मर्मे॥
अमायाय एइ सब कहलाङ कथा।
आर तुमि मने दुख ना पाउ सर्वथा॥

श्री चैतन्य भागवत्, मध्य २६ अध्याय।

—"मां! और भी मेरे दो जन्म इसी सङ्कीर्तन आरम्भ में होंगे और शीघ्र ही मैं तुम्हारा पुत्र बनूंगा। इस प्रकार तुम मेरी जन्म जन्म की माता हो। वास्तव में तुम्हारा और मेरा कभी विच्छेद नहीं हैं, मैंने यह सब बात कपट रहित होकर तुम से कही है। अब तुम बिलकुल कुछ भी दुःख मन में न पाओ।"

श्री चैतन्यभागवत में व्यासावतार—श्रीवृन्दावन दास ठाकुर की —"**एइ मत आछे आर दुई अवतार**" तथा "**आरो दुई जन्म एइ सङ्कीर्तनारम्भे। हइब तोमार पुत्र आमि अविलम्बे।**"—इन दो उक्तियों का मर्म सहज में नहीं समझा जा सकता।

श्रीवृन्दावनदास ठाकुर के चरण स्मरण कर इन दोनों उक्तियों की कुछ आलोचना करने की हम यहां चेष्टा करते हैं—

आगामी दो अवतारों में श्रीमहाप्रभु ने किस स्वरूप के अवतीर्ण होने का इङ्गित किया है, पहले उसके सम्बन्ध में ही आलोचना करते हैं। शचीमाता को उन्होंने कहा कि दोनों अवतारों में ही ये सङ्कीर्तनारम्भ में जन्म-लीला प्रकाशित करेंगे। पृश्निगर्भ से लेकर देवकी पुत्र तक उनके किसी स्वरूप ने भी सङ्कीर्त्तनारम्भ में जन्म-लीला ग्रहण नहीं की। केवल मात्र श्रीगौरसुन्दर स्वरूप से ही वे सङ्कीर्त्तनारम्भ में अवतीर्ण हुए हैं। इसलिए शचीमाता के निकट प्रभु की उक्ति का यह तात्पर्य दीखता है कि आगामी दो अवतारों में भी श्रीगौरसुन्दर रूप से वे अवतीर्ण होंगे। श्रीमन्महा-प्रभु ने अपने पार्षद-भक्तों को भी जो कुछ कहा है, उससे भी स्पष्ट समझा जा सकता है कि 'अब जैसे नवद्वीप में मेरा अवतार है, ठीक उसी प्रकार और दो अवतार मेरे होंगे।" उन दोनों अवतारों में भी—वर्तमान कलि में जो भक्त उनके साथ कीर्तनानन्द उपभोग कर रहे हैं, वही ही प्रभु के पास उस भाव का कीर्त्तनानन्द प्राप्त करेंगे। और दो बार वे नवद्वीप लीला प्रकटित करेंगे—यही उन्होंने कहा है। नवद्वीपचन्द्र श्रीगौर जब पार्षदों सहित अवतीर्ण होते हैं, उनका धाम नवद्वीप भी तब जगत् में अवतीर्ण होता है। उसी धाम में वे लीला करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि वर्तमान कलि में उन्होंने जो लीला प्रकटित की है, ठीक वही लीला ही वे फिर भी दो बार प्रकटित करेंगे अर्थात् शची-जगन्नाथ के घर ही वे जन्म-लीला ग्रहण करेंगे तथा अपने उन्हीं पार्षदगण—श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैत-गदाधर आदि के साथ सङ्कीर्त्तनारम्भ करेंगे—यही प्रभु की उक्ति का तात्पर्य है।

अब देखना यह है कि श्रीगौरसुन्दर जो और दो अवतार ग्रहण करेंगे, वे किस समय में?—प्रभु ने तो समय के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं। कहने का प्रयोजन भी नहीं था, क्यों कि उनके अवतार के समय को तो शास्त्र द्वारा ही जाना जाता है।

शास्त्र के अनुसार तो ब्रह्मा के एक दिन में स्वयं भगवान् एकबार ही अवतीर्ण होते हैं। श्रीगौरसुन्दर स्वयं भगवान् हैं, इसलिए वे भी ब्रह्मा के

एक दिन में एक ही बार अवतीर्ण हुआ करते हैं। वर्त्तमान कलि में जब वे एक बार अवतीर्ण हो चुके हैं, तब, वर्त्तमान कलि ब्रह्मा के जिस दिन में अन्तर्भुक्त है। उसी दिन में वे फिर अवतीर्ण नहीं होंगे—यह बात स्पष्ट है।

हमारे हिसाब से ब्रह्मा का एक दिन होता है चार सौ बत्तीस करोड़ वर्षों का। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मन्वन्तर होते हैं। इस समय वैवस्वत नाम का सप्तम मन्वन्तर चल रहा है। इस मन्वन्तर के समाप्त होने पर ब्रह्मा के दिन में और अभी सात मन्वन्तर बाकी रहेंगे। एक मन्वन्तर में इकहत्तर चतुर्यगी होती हैं। वैवस्वत मन्वन्तर की अठाईसवी चतुर्युगी का कलियुग चल रहा है। वर्तमान कलि के लगभग ५०७० वर्ष बीत चुके हैं और ४३२०००–५०७०=४३१४९३० वर्ष बाकी हैं!

इनके बीतने पर तथा तेतालीस चतुर्युग और बीतने पर ब्रह्मा का वर्तमान दिन समाप्त होगा। ब्रह्मा के वर्त्तमान दिन के समाप्त होने पर और दूसरा दिन लगेगा, जिसमें एकबार श्रीमन्महाप्रभु अवतीर्ण होंगे। इसी प्रकार फिर समय बीतने पर ब्रह्मा का दूसरा दिन लगेगा और फिर उसमें एक बार श्रीमन्महाप्रभु अवतीर्ण होंगे।

प्रश्न होता है,ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में ही जब श्रीश्रीगौरसुन्दर अवतीर्ण होते हैं, तो फिर श्रीमहाप्रभु ने केवल दो बार अवतीर्ण होने की बात कैसे कही है?

ब्रह्मा का एक दिन हमारे हिसाब से चार सौ बत्तीस कोटि वर्ष का होता है। ऐसे तीन सौ साठ दिनों का उसका एक वर्ष और ऐसे १०० वर्ष की ब्रह्मा की आयु होती है। ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर महाप्रलय हुआ करती है और महाप्रलय के बाद फिर दूसरी सृष्टि का आरम्भ होता है। श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति से यह अनुमान लगता है कि ब्रह्मा की आयु पूर्ण होने में वर्त्तमान दिन को छोड़कर केवल दो दिन और बाकी हैं और उसके बाद महाप्रलय होगी। इसलिए महाप्रलय के पहले पहले श्रीमहाप्रभु केवल दो बार ही और अवतार ग्रहण करेंगे।

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि वे अविलम्ब—अर्थात् शीघ्र ही पुनः अवतीर्ण होंगे। अविलम्ब का शब्द भी यहां ब्रह्मा के दो दिन बाकी रहने के दृष्टि कोण से कहा गया है। वर्तमान कलि में श्रीमन्महाप्रभु और दो

अवतार शीघ्र ग्रहण करेंगे—यह बात शास्त्रसम्मत नहीं है। अतः इस कलि में या निकटवर्ती काल में कहीं भी प्रभु अवतीर्ण नहीं होंगे—यथा समय ही अवतीर्ण होंगे—श्री चैतन्य भागवत् अन्तर्गत प्रभु की उक्तियों का भी यही तात्पर्य है।

नाम-सङ्कीर्त्तन

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

"नाम-सङ्कीर्त्तन कलौ परम-उपाय।"

श्री चै० च० ३।२०।७

नाम-सङ्कीर्त्तन को परम उपाय कहने का कारण भी श्रीमहाप्रभु की उक्ति द्वारा जाना जाता है। उन्होंने कहा है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नव विधा-भक्ति।
कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम सङ्कीर्त्तन।
निरपराध नाम हैते हय प्रेमधन॥

श्री चै० च० ३।४।६५-६६

नाम-नामी अभिन्न होने से ही नाम की इतनी महिमा है। और कोई भी भजनाङ्ग नामी के साथ अभिन्न नहीं है।

महाप्रभु ने और भी कहा है—

"नवविधा भक्ति पूर्ण हय नाम हैते।

श्री चै० च० २।१५।१०८

इस उक्ति से भी यही ध्वनित होता है कि नवविधा-भक्ति के साथ साथ नाम-सङ्कीर्त्तन करना होगा, वरना नवभक्ति का वह अनुष्ठान अधूरा ही रहेगा।

नाम-सङ्कीर्त्तन के सर्वश्रेष्ठत्व का और भी एक कारण है। साधक समाज में जितने प्रकार के साधन-पन्थ प्रचलित हैं, उन सब के ऊपर नाम-

सङ्कीर्त्तन की व्याप्ति है, वह व्याप्ति दो प्रकार से है— आनुषङ्गिक भाव से सहायता-दान रूप से व्याप्ति तथा स्वतन्त्र रूप से व्याप्ति। कर्म-योग-ज्ञान मार्ग के साधनों में सहायता-दान रूप से व्याप्ति है—"**भक्तिमुख निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान**।" श्री चैतन्य च० २।२२।१४ भक्ति की सहायता बिना कर्म-योग, व ज्ञान मार्ग के साधन अपना अपना फल प्रदान करने में असमर्थ हैं। इसलिए कर्म-मार्ग में, योग मार्ग में तथा ज्ञान-मार्ग में साधनों की सहाय-कारिणी रूप से भक्ति की व्याप्ति—व्यापकता है। और भक्ति-अङ्गों में नाम-सङ्कीर्त्तन ही सर्व श्रेष्ठ होने से नाम-सङ्कीर्त्तन की व्याप्ति है।

स्वतन्त्र व्याप्ति इस तरह पर है। कर्म-योग-ज्ञानादि मार्गों में शास्त्र में जिन समस्त साधनाङ्गों की व्यवस्था बतलाई गई है,उन समस्त साधनाङ्गों का अनुष्ठान न करके, अपने अभीष्ट को चित्त में रखते हुए यदि केवल नाम-सङ्कीर्त्तन ही किया जाय, तो विभिन्न पन्थों के साधक अपने अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकते हैं। नाम-सङ्कीर्त्तन स्वतन्त्र भाव से ही उन समस्त फलों को प्रदान करने में समर्थ हैं।

श्रीमद्भागवत् (२।१।११) कहती है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥

फलाकांक्षी सकाम व्यक्तियों को अभीष्ट फल देने में, निर्वेद भाव प्राप्त मुमुक्षुओं को मोक्ष प्राप्त कराने में, योगियों को परमात्मा के साथ मिलन प्राप्ति कराने में श्रीहरिनाम कीर्त्तन ही एक मात्र विघ्नादि-आशङ्काशून्य निरापद उपाय है—यह बात निर्णय की जा चुकी है।

वराह पुराण में लिखा है—

नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्त्तयेद् भूमि याति मल्लतां स हि ॥

श्रीहरिभक्ति विलास ११।२०८ धृतवचन।

—श्रीभगवान् कहते हैं— "हे भूमि ! जो व्यक्ति, हे नारायण ! हे अच्युत ! हे अनन्त ! हे वासुदेव ! निरन्तर इन सब नामों का कीर्त्तन करता है, वह मेरे साथ सायुज्य लाभ करता है। नाम-सङ्कीर्त्तनके फल से

सालोक्यादि चारों प्रकार की मुक्ति प्राप्तकर साधक वैकुण्ठ या विष्णु-लोक में जाकर पार्षदत्व प्राप्त कर सकता है।

वृहन्नारदीय पूराण में कहा गया है—

जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
विष्णुलोकमवाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥

श्रीहरिभक्ति विलास ११।२२१ धृत-वचन

जिस की जिह्वा के अग्रभाग पर "हरि" यह दो अक्षर रहते हैं, वह विष्णु-लोक को प्राप्त करता है अर्थात् उसे सालोक्यादि चारों प्रकार की मुक्ति प्राप्त होती है और उसे फिर संसार में नहीं आना पड़ता।

इससे विदित होता है कि सकाम साधक के इस लोक तथा परलोक के सुख-भोगादि से आरम्भ कर पञ्चविधा मुक्ति पर्यन्त तक केवलमात्र नाम-सङ्कीर्तन के फल से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति है ऐश्वर्य-ज्ञान मिश्रित भक्ति-मार्ग का फल। किन्तु यही मात्र ही बस नाम-सङ्कीर्त्तन का फल नहीं है—और न ही नाम-सङ्कीर्त्तन का यही मुख्य फल है। नाम-सङ्कीर्त्तन का मुख्य फल है प्रेम, भगवद्-प्रेम, जिस से श्रीभगवान् अत्यन्त प्रीति लाभ करते हैं एवं भक्त के वशीभूत हो जाते हैं।

जो रसिक-शेखर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की चरण-सेवा चाहने वाले हैं, वे सालोक्यादि-मुक्ति की कामना नहीं करते। भगवान् स्वयं ही उन्हें देना चाहें तो भी वे उसे ग्रहण नहीं करते —

सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

श्री भागवत् ३।२९।१३

उनकी एक मात्र काम्य वस्तु है प्रेम, जो कृष्ण सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा का एक मात्र उपाय है।

किसी प्रकार भी नाम या नामाभास का उच्चारण करने से निरपराधी व्यक्ति मुक्ति लाभ कर सकता है,किन्तु प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता। प्रेम-प्राप्ति के लिये कैसे नाम-सङ्कीर्त्तन करना चाहिए—उसे भी श्रीमन्महाप्रभु ने बतलाया है—

सङ्कीर्त्तन की व्याप्ति है, वह व्याप्ति दो प्रकार से है— आनुषङ्गिक भाव से सहायता-दान रूप से व्याप्ति तथा स्वतन्त्र रूप से व्याप्ति। कर्म-योग-ज्ञान मार्ग के साधनों में सहायता-दान रूप से व्याप्ति है—"**भक्तिमुख निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान**।" श्री चैतन्य च० २।२२।१४ भक्ति की सहायता बिना कर्म-योग, व ज्ञान मार्ग के साधन अपना अपना फल प्रदान करने में असमर्थ हैं। इसलिए कर्म-मार्ग में, योग मार्ग में तथा ज्ञान-मार्ग में साधनों की सहाय-कारिणी रूप से भक्ति की व्याप्ति—व्यापकता है। और भक्ति-अङ्गों में नाम-सङ्कीर्त्तन ही सर्व श्रेष्ठ होने से नाम-सङ्कीर्त्तन की व्याप्ति है।

स्वतन्त्र व्याप्ति इस तरह पर है। कर्म-योग-ज्ञानादि मार्गों में शास्त्र में जिन समस्त साधनाङ्गों की व्यवस्था बतलाई गई है,उन समस्त साधनाङ्गों का अनुष्ठान न करके, अपने अभीष्ट को चित्त में रखते हुए यदि केवल नाम-सङ्कीर्त्तन ही किया जाय, तो विभिन्न पन्थों के साधक अपने अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकते हैं। नाम-सङ्कीर्त्तन स्वतन्त्र भाव से ही उन समस्त फलों को प्रदान करने में समर्थ हैं।

श्रीमद्भागवत् (२।१।११) कहती है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥

फलाकांक्षी सकाम व्यक्तियों को अभीष्ट फल देने में, निर्वेद भाव प्राप्त मुमुक्षुओं को मोक्ष प्राप्त कराने में, योगियों को परमात्मा के साथ मिलन प्राप्ति कराने में श्रीहरिनाम कीर्त्तन ही एक मात्र विघ्नादि-आशङ्काशून्य निरापद उपाय है—यह बात निर्णय की जा चुकी है।

वराह पुराण में लिखा है—

नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्त्तयेद् भूमि याति मल्लतां स हि ॥

श्रीहरिभक्ति विलास ११।२०८ धृतवचन।

—श्रीभगवान् कहते हैं— "हे भूमि ! जो व्यक्ति, हे नारायण ! हे अच्युत ! हे अनन्त ! हे वासुदेव ! निरन्तर इन सब नामों का कीर्त्तन करता है, वह मेरे साथ सायुज्य लाभ करता है। नाम-सङ्कीर्त्तनके फल से

सालोक्यादि चारों प्रकार की मुक्ति प्राप्तकर साधक वैकुण्ठ या विष्णु-लोक में जाकर पार्षदत्व प्राप्त कर सकता है।

वृहन्नारदीय पूराण में कहा गया है—

जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
विष्णुलोकमवाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥

श्रीहरिभक्ति विलास ११।२२१ धृत-वचन

जिस की जिह्वा के अग्रभाग पर "हरि" यह दो अक्षर रहते हैं, वह विष्णु-लोक को प्राप्त करता है अर्थात् उसे सालोक्यादि चारों प्रकार की मुक्ति प्राप्त होती है और उसे फिर संसार में नहीं आना पड़ता।

इससे विदित होता है कि सकाम साधक के इस लोक तथा परलोक के सुख-भोगादि से आरम्भ कर पञ्चविधा मुक्ति पर्यन्त तक केवलमात्र नाम-सङ्कीर्तन के फल से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति है ऐश्वर्य-ज्ञान मिश्रित भक्ति-मार्ग का फल। किन्तु यही मात्र ही बस नाम-सङ्कीर्त्तन का फल नहीं है—और न ही नाम-सङ्कीर्त्तन का यही मुख्य फल है। नाम-सङ्कीर्त्तन का मुख्य फल है प्रेम, भगवद्-प्रेम, जिस से श्रीभगवान् अत्यन्त प्रीति लाभ करते हैं एवं भक्त के वशीभूत हो जाते हैं।

जो रसिक-शेखर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की चरण-सेवा चाहने वाले हैं, वे सालोक्यादि-मुक्ति की कामना नहीं करते। भगवान् स्वयं ही उन्हें देना चाहें तो भी वे उसे ग्रहण नहीं करते —

सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

श्री भागवत् ३।२९।१३

उनकी एक मात्र काम्य वस्तु है प्रेम, जो कृष्ण सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा का एक मात्र उपाय है।

किसी प्रकार भी नाम या नामाभास का उच्चारण करने से निरपराधी व्यक्ति मुक्ति लाभ कर सकता है,किन्तु प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता। प्रेम-प्राप्ति के लिये कैसे नाम-सङ्कीर्त्तन करना चाहिए—उसे भी श्रीमन्महाप्रभु ने बतलाया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

इस श्लोक का तात्पर्य नीचे के पयारों में प्रकाशित किया गया है—

उत्तम हञा आपनाके माने तृणाधम।
दुई प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम॥
वृक्ष येन काटिलेह किछु ना बोलय।
शुखाइया मैले कारे पानी न मागय॥
येइ ये मागये, तारे देय आपन धन।
घर्मवृष्टि सहे आनेर करये रक्षण॥
उत्तम हञा वैष्णव हवे निरभिमान।
जीवे सम्मान दिवे जानि कृष्णेर अधिष्ठान॥
एइमत हञा येइ कृष्णनाम लय।
कृष्णेर चरणे तार प्रेम उपजय॥

श्री चै० च० ३।२०।१७-२१

प्रेम-प्राप्ति के उद्देश्य से नाम-सङ्कीर्तन करते हुए और भी दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

एक तो, सासङ्ग-भाव से नाम-सङ्कीर्त्तन करना चाहिये अर्थात् श्रीभगवान् के सामने अपनी उपस्थिति का चिन्तन करते हुए उनकी प्रीति के उद्देश्य से नाम-सङ्कीर्त्तन करना चाहिए।

दूसरे, नाम-सङ्कीर्त्तन को व्रतरूप से ग्रहण करना होगा।

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

श्रीमद्भागवत् के (११।२।४०) के उपर्युक्त श्लोक से यह जाना जाता है कि नाम-सङ्कीर्त्तन को व्रत रूप से ही ग्रहण करने से प्रेम की प्राप्ति हो सकती है।

जो अविचलित भाव से नित्य अनुष्ठित होता है, उसे 'व्रत' कहते हैं। प्रतिदिन अविचलित भाव से निर्दिष्ट-संख्यक नाम ग्रहण करने से ही यह

कहा जा सकता है कि नाम-सङ्कीर्त्तन को व्रतरूप में ग्रहण किया गया है। श्रीहरिदास ठाकुर का नियम था कि वे एक मास में एक करोड़ नाम ग्रहण करते थे। उन्होंने उसे अविचलित चित्त से पूरा किया। संख्या रक्षण पूर्वक नाम-कीर्त्तन न करने से व्रतत्व रक्षित नहीं हो सकता. किसी दिन कम भी हो सकता है। इसलिए प्राचीन महाजनगण ने और तो क्या श्रीमहाप्रभु ने भी संख्या-रक्षण पूर्वक नाम-कीर्त्तन का आदर्श स्थापन किया है।

व्रतरूप से ग्रहण किया जाने वाले संख्या-पूर्वक हरिनाम को माला से हो कीर्त्तन किया जाना चाहिए। वरना संख्या नहीं रखी जा सकती। व्रतरूप से जो संख्या ग्रहण की जाए, किसी दिन भी उसकी संख्या कम रह जाने से व्रतभंग हो जाएगा। अवश्य अधिक होने पर क्षति नहीं, क्योंकि सर्वदा नाम-सङ्कीर्त्तन विधेय है। सर्वदा नाम-संकीर्त्तन सम्भव नहीं है, इसलिए ही निर्दिष्ट संख्या में कीर्त्तन करने का उपदेश है।

संख्यानाम पूर्ण हो जाने के बाद अथवा अधिक हो जाने पर बिना संख्या के नाम-संकीर्त्तन में भी कुछ दोष नहीं है। क्योंकि श्रीमहाप्रभु ने कहा है—

खाइते शुइते यथा-तथा नाम लय।
देश-काल-नियम नाहि, सर्वसिद्धि हय॥

श्री चै० च० ३।२०।१४

बिना संख्या नाम करना सङ्गत न हो, ऐसी भी कोई बात शास्त्र में नहीं दीखती और न ही श्रीमहाप्रभु ने ऐसा कहा है। फिर भी व्रतरूप से ग्रहण करते हुए नाम संख्यापूर्वक ही कीर्त्तन करना चाहिए, यह बात प्राचीन महत् पुरुषों ने तथा श्रीमहाप्रभु ने भी अपने आचरण द्वारा दिखाई है।

नाम व नामी अभिन्न होने से नामी की भांति नाम भी है स्वतन्त्र। किसी भी विधि-निषेध के अधीन नहीं है। नाम स्वप्रकाश है, कृपा करके वह किसी भाग्यवान की जिह्वा पर आत्म-प्रकट करता है।

भगवान् का नाम-मात्र ही महामन्त्र है। महामन्त्र–शब्द का यही तात्पर्य है कि यह मन्त्र की भांति विधि-निषेध की अपेक्षा नहीं रखता है। इसलिए नाम कभी भी दीक्षा-पुरश्चर्या-विधि की अपेक्षा नहीं रखता एवं

इसलिए खाते-पीते सोते-जागते जैसे तैसे नाम-ग्रहण की विधि है। दीक्षामन्त्र, किन्तु दीक्षा एवं पुरश्चर्या-विधि की अपेक्षा रखता है, उसका हर अवस्था में जप नहीं किया जा सकता।

गृहस्थी, संन्यासी, पुरुष-स्त्री, बालक-वृद्ध—कोई भी क्यों न हो, किसी स्थान पर भी, किसी भी समय, किसी भी अवस्था में नाम-संकीर्त्तन किया जा सकता है। इसलिए श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि नाम संकीर्त्तन की सर्वदेश, काल, पात्र, एवं अवस्था पर व्याप्ति है।

श्रीमन्महाप्रभु के चरणानुगत गोस्वामिवृन्द ने तो उच्च-नाम-सङ्कीर्त्तन करने की ही महान् प्रशंसा की है। श्रीमहाप्रभु भी उच्चस्वर से तारक-ब्रह्म नाम का कीर्त्तन करते थे। श्रीहरिदासठाकुर भी एक लाख नाम उच्चस्वर से करते थे।

नाम परम मधुर है, आनन्द समुद्र को उच्छ्वसित कर देता है। नाम के प्रतिपद में, प्रति अक्षर में पूर्ण अमृत का आस्वादन प्राप्त होता है। माया-मलिन चित्त होने से जीव किन्तु इस नाम के माधुर्य का अनुभव नहीं कर पाता। नाम के द्वारा ही चित्त की मलिनता दूर होने पर नाम-माधुर्य का आस्वादन किया जा सकता है।

नाम-माधुर्य की आस्वादन-चमत्कारिता इतनी अधिक है कि पूर्ण-काम एवं आनन्द स्वरूप होकर भी रसिक-शेखर भगवान् नाम के माधुर्य के आस्वादन के लिए लालायित रहते हैं। तभी तो उन्होंने कहा है—"**मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।**" श्रीराधाकृष्ण मिलित विग्रह श्रीगौरसुन्दर भी नाम-माधुर्य के आस्वादन के लिए लालायित रहते हैं यह तो वर्णन किया ही जा चुका है। इसलिये उनकी उपासना का सर्वप्रकार उपचार भी है नाम-संकीर्त्तन। "यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः" श्रीभा० ११।५।३२॥ जो भाग्यवान् उन्हें आत्म-समर्पण तक कर देते हैं, उन्हें वे मदन मोहनरूप से नाम-सङ्कीर्त्तनरूप अमृतरस परिवेशन करते हैं और उनको प्रीतिपूर्वक अपने से भी अधिक ही अपूर्व एवं अनिर्वचनीय माधुर्य-चमत्कारित्वमय अपने रूप का माधुर्य आस्वादन कराया करते हैं।

उपसंहार

श्रीपाद स्वरूपदामोदर की कड़चा से जिस श्लोक को लेकर आलोचना आरम्भ हुई थी, श्रीश्रीगौरसुन्दर तत्व के सम्बन्ध में उसी श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वह सम्यक्रूप से शास्त्र-सम्मत है, पूर्ववर्त्ती आलोचना से यह बात परिष्कार भाव से ज्ञात होती है।

श्रीराधा के साथ एकत्व-प्राप्ति के कारण गौरवर्ण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस विशेष कलि में ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होकर संन्यास ग्रहण पूर्वक आपामर साधारण को प्रेम वितरण करते हैं, उनके दर्शनों से लोग प्रेम-भक्ति लाभ कर, उनकी ही भांति प्रेम-वितरण की शक्ति प्राप्त करते हैं एवं श्रीराधा-भाव में आविष्ट होकर वे स्वीय माधुर्य आस्वादन किया करते हैं—वे सब बातें शास्त्र-वाक्यों की आलोचना से प्रतिपादित हुई हैं। वर्त्तमान विशेष कलि में अवतीर्ण श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य में वे सब लक्षण विराजमान् हैं, श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता के विशेष लक्षण एवं महाभाव स्वरूपा श्रीराधा के विशेष लक्षण इन में विद्यमान् हैं यह भी देखा गया है। इसलिए श्रीकृष्णचैतन्य ही राधा-भावद्युति सुवलित श्रीकृष्ण-स्वरूप हैं, शास्त्र का विश्वास रखने वाले लोगों को इसबात में कोई भी सन्देह नहीं रह सकता।

॥ श्रीकृष्णचैतन्यार्पणमस्तु ॥

—:विशेष:—

श्रीश्रीगौरसुन्दर श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की

विस्तृत लीलाओं को

उनके द्वारा स्थापित

वैष्णव सिद्धान्तों को

एवं

साधन-भजन सम्बन्धी शिक्षाओं को

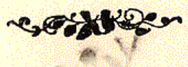
यदि आप पूर्णरूप से जानना चाहते हैं तो

चैतन्यचरण–चुम्बिनी टीका सहित

कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामि विरचित

श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत

आदि, मध्य एवं अन्त्य लीला का अध्ययन कीजिए



—प्राप्ति स्थान—

श्यामलाल हकीम

मन्त्री—श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन मण्डल

श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)